प्रकाशक
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य मंडल, अजमेर

हिंदी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मण्डल की पुस्तकों का विषय उनकी पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर ज़रा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं। मण्डल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थाई ग्राहक होने के नियम पुस्तक के अंत में दिए हुए हैं, उन्हें एकबार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

मुद्रक
जीतमल लूणिया,
सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर

संसार के साहित्य का भूषण

सत्य के प्रयोग

अथवा

आत्म-कथा

लेखक—महात्मा गांधी

अनुवादक—पं० हरिभाऊ उपाध्याय

यह पुस्तक मण्डल से दिसम्बर सन् १९२७ तक प्रकाशित हो जायगी

पृष्ठ संख्या लगभग ५००, मूल्य स्थाई ग्राहकों से लगभग ॥)

मण्डल के स्थाई ग्राहक बनने के नियम

तथा

मण्डल से प्रकाशित पुस्तकों का विवरण अन्त में दिया है

सो पढ़ लीजिये

लागत का ब्योरा

कागज़	२४०)
छपाई	२८०)
बाइंडिंग	४४)
व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	३१६)
	८८०)

प्रतियाँ २४००

एक प्रति का लागत मूल्य ।=)

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—जनरल स्मट्स का विश्वासघात (?)	७
२—युद्ध की पुनरावृत्ति	२१
३—ऐच्छिक परवाने की होली	२७
४—कौम पर एक नया आरोप	३२
५—सोराबजी शापुरजी अडाजनिया	४०
६—सेठ दाऊदमहमद आदि का युद्ध में शामिल होना	४९
७—देश निकाला	५६
८—फिर डेप्यूटेशन	६५
९—टॉल्स्टॉय फार्म	७२
१०—टॉल्स्टॉय फार्म (२)	७७
११—टॉल्स्टॉय फार्म (३)	८७
१२—श्री गोखलेजी का प्रवास	११०
१३—श्री गोखलेजी का प्रवास (चलू)	१२२
१४—वचन-भङ्ग	१२८
१५—विवाह गैर कानूनन	१२५
१६—स्त्रियां कैद में	१४७

विषय	पृष्ठ
१७—मजदूरों की धारा	१४९
१८—खानों के मालिकों से बातचीत और उसके बाद ...	१५६
१९—ट्रान्सवाल में प्रवेश	१५६
२०—ट्रान्सवाल में प्रवेश (चल.)	१७०
२१—सभी कैद	१७७
२२—कसौटी	१८८
२३—अन्त का आरम्भ	१९६
२४—प्राथमिक समझौता	२०६
२५—पत्र व्यवहार	२१०
२६—युद्ध का अन्त	२१७
२७—उपसंहार	२२०

दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह

[उत्तरार्द्ध]

पहला अध्याय

जनरल स्मट्स का विश्वासघात (?)

आन्तरिक मुसीबतों का दर्शन तो पाठक कुछ कुछ कर ही चुके। उसमें प्रायः मुझे अपनी आत्म-कथा ही देनी पड़ी। पर यह अनिवार्य था। क्योंकि सत्याग्रह से सम्बन्ध रखने वाली मेरी मुसीबतें ही सत्याग्रहियों की मुसीबतें भी बन गईं। अब हम फिर बाहरी मुसीबतों का अवलोकन करें। इस प्रकरण का शीर्षक लिखते हुए मुझे बडी लज्जा मालूम हुई और, यह अध्याय लिखते हुए भी मुझे उतनी ही शर्म मालूम हो रही है। क्योंकि इसमें मनुष्य स्वभाव की वक्रता का वर्णन है। जनरल स्मट्स सन् १९०८ में भी कम से कम दक्षिण आफ्रिका में तो सब से अधिक होशियार नेता माने जाते थे। और आज अगर संसार में नहीं तो कम से कम ब्रिटिश साम्राज्य में तो जरूर ही वे ऊंचे दर्जे के कार्यकुशल पुरुष गिने जाते हैं। मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि उनकी शक्ति बहुत बढी हुई है। वे जितने कुशल वकील हैं, उतने ही कुशल सेना-नायक हैं और उतने ही कुशल राज्य-प्रबंधक पुरुष भी वे हैं। दक्षिण अफ्रिका में कई राज्य-प्रबंधक आये और चले गये। पर १९०७ से आज तक दक्षिण आफ्रिका के शासन

सूत्रों को उन्होंने अपने हाथों ही में रक्खा है, और आज भी समस्त दक्षिण आफ्रिका में ऐसा एक भी पुरुष नहीं है, जो इनके मुकाबले में खडा रह सके। यह लिखते समय मुझे दक्षिण आफ्रिका छोडे नौ साल हो गये इसलिए मैं नहीं जानता कि आज दक्षिण आफ्रिका उन्हें किस विशेषण से पहचानती है। जनरल स्मट्स का निजी नाम जेन है। पर दक्षिण आफ्रिका के लोग उन्हें 'स्लिम जेनी' ही कहते हैं। यहां पर 'स्लिम' का अर्थ है 'हट जाने वाला', 'कभी पकड में न आने वाला'। गुजराती भाषा में इसका नजदीकी समानार्थक शब्द है 'खंधो', अथवा सौम्य विशेषण का प्रयोग करना चाहें तो इसके विपरीत अर्थ में 'चालाक' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। मुझे कई अंगरेज़ मित्रों ने कहा जनरल स्मट्स से तुम संभल कर रहना। वह बडा पहुंचा हुआ आदमी है। कोई बात कहकर बदल जाने में उसे जरा भी देर नहीं लगती। उसके बोलने का ठीक ठीक अर्थ तो केवल वही जानता है। कई बार वह इस तरह बोलता है कि दोनों पक्ष अपने अपने अनुकूल उसका अर्थ कर सकते हैं। पर मौका आने पर उन दोनों अर्थों को एक तरफ रख कर वह अपना एक तीसरा ही अर्थ बता देता है, और फौरन उस पर अमल करके अपने इस कार्य के समर्थन में ऐसी ऐसी चालाक दलीलें पेश करता है कि घडी भर के लिए दोनों पक्ष यही मानने लग जाते हैं कि, जरूर जनरल स्मट्स का बताया अर्थ ही सच्चा अर्थ है, हमसे कोई भूल होगई होगी। इस समय मुझे ऐसे ही एक विषय का वर्णन, इस प्रकरण में करना है। वह घटना जिस समय हुई उस समय वह विश्वासघात मानी और कही भी गई थी। आज भी कौम की दृष्टि से मैं उसे विश्वासघात ही मानता

हूं। परन्तु यह होते हुए भी मैंने इस शब्द के सामने प्रश्न चिन्ह इसलिए रख दिया है कि संभव है, कहीं उन्होंने वह विश्वासघात का काम बुद्धि-पूर्वक न भी किया हो। और जहां घात करने का कोई हेतु ही न हो, वहां यह भी कैसे मान सकते हैं कि उन्होंने विश्वास का भंग किया ? सन् १९१३-१४ में जनरल स्मट्स का मुझे जो अनुभव हुआ, उसे मैं उस समय तो कडुआ नहीं मानता था और न आज भी, जब कि मैं उसपर अधिक तटस्थता पूर्वक विचार कर सकता हूं, वैसे मानता हूं। इसलिए बहुत संभव है, १९०८ साल का उनका भारतीयों के प्रति वर्ताव ज्ञान पूर्वक किया गया विश्वासघात न भी हो।

इतनी बडी प्रस्तावना मुझे इसलिए लिखनी पडी कि जनरल स्मट्स के प्रति मैं न्याय कर सकूं, और साथ ही इसलिए भी कि, उनके नाम के साथ मैंने विश्वासघात शब्द का जो प्रयोग किया है, तथा मुझे इस प्रकरण में जो कुछ कहना है, उसका मैं बचाव कर सकूं। पिछले अध्याय में हम यह पढ चुके कि भारतीयों ने ऐच्छिक परवाने ठीक उसी तरह निकलवा लिये जिससे ट्रान्सवाल की सरकार को संतोष हो जाय। अब उस सरकार का काम था खूनी कानून को रद करना। अगर वह ऐसा ही कर डालती तो सत्याग्रह का युद्ध भी समाप्त हो जाता। सत्याग्रह का अर्थ यह नहीं था कि ट्रान्सवाल में भारतीयों के खिलाफ जितने भी कुछ कानून थे वे सब रद हो जायं, या हिन्दी जनता के तमाम दुःख दूर हो जायँ। यह करने के लिए तो पहले की तरह वैध आन्दोलन शुरू रखना ही आवश्यक था। सत्याग्रह का आश्रय तो केवल खूनी कानून के नवीन और भंयकर तूफान को दूर करने मात्र के लिए ही लिया गया

था। उस कानून को स्वीकार करना कौम का सरासर अपमान था; और उस स्वीकृति से प्रथम तो ट्रान्सवाल से और अन्त में तमाम दक्षिण आफ्रिका से भारतीयों की हस्ती ही मिटी जा रही थी। पर खूनी कानून रद्द करने के लिए एक योजना बनाने के बजाय जनरल स्मट्स ने तो और ही कुछ कर डाला। उसने एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसके द्वारा एक ओर तो खूनी कानून को बहाल रक्खा और दूसरी ओर उन ऐच्छिक परवानों को कानूनन करार दिया। पर उस वक्तव्य में उसने एक यह वाक्य भी डाल दिया था कि जो भारतीय अब तक परवाना ले चुके हैं उन पर खूनी कानून अमल नहीं करेगा। इसका अर्थ तो यह हुआ कि एक ही हेतु को पूर्ण करने के लिए दो कानून रहें और बाहर से आने वाले नवीन भारतीयों को तथा नवीन परवाना लेने वाले भारतीयों को भी खूनी कानून द्वारा शासित होना चाहिए।

यह बिल पढकर मैं तो पूरा किंकर्तव्यमूढ हो गया, कौमको मैं क्या उत्तर दूंगा? उन पठान भाइयों को, जिन्होंने उस मध्यरात्रि की सभा में मुझ पर सख्त आक्षेप किये थे, कैसी सुन्दर दलील मिलगई? पर मुझे कह देना चाहिए कि इस अकल्पित आघात के कारण सत्याग्रह पर मेरा विश्वास ढीला होने के बजाय और भी तीव्र हो गया। हमारी कमिटी की बैठक निमन्त्रितकरके मैंने उन्हें समझाया। कितने ही भाइयों ने ताना देकर मुझसे कहा "हम तो आपसे कभी से कह रहे थे कि आप बहुत भोले हैं। जो कुछ भी कोई कह देता है, आप सच्चा मान लेते हैं। अगर आप अपने खानगी कामों में ही इस तरह से काम चलाते, तब तो कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं थी। पर यहां तो आप जाति के कामों में भी उसी

भोलेपन से काम ले रहे हैं, और उसके फल-स्वरूप कौम को कष्ट झेलना पडता है ? अब पहले कासा जोश आना बहुत मुश्किल है कमसेकम हमें तो ऐसा ही मालूम होता है। आप भी तो अपनी कौम के स्वभाव से अपरिचित नहीं हैं"। यह तो सोडा वॉटर की बोतल है। सिर्फ घडीभर के लिए जोश आता है, बस हमें उसीका उपयोग कर लेना चाहिए। जोश हटा कि मामला खतम है। इस शब्द-बाण में जहर न था। किसी अन्य समय भी मुझे इसी प्रकार सहन करना पडा था। मैंने कुछ हंस कर उत्तर दिया "आप जिसे मेरा भोलापन समझे हुए हैं वह तो अब मेरे स्वभाव का एक अंग हो गया है। यह भोलापन नहीं, विश्वास है; और मैं समझता हूं कि विश्वास करना तो मेरा आपका सभी का धर्म है, इसलिए यदि मेरी सेवा से आपको कोई फायदा हो रहा हो, तो मेरी इस स्वभावगत बुराई से—यदि आप इसे बुराई समझें तो—होने वाले नुकसान को भी आपको बरदाश्त कर लेना चाहिए। फिर आपके साथ साथ मैं यह नहीं मानता कि जाति का उत्साह सोडा वॉटर की बोतल के उफान के जैसा है। जाति में आप भी हैं और मैं भी। यदि मेरे उत्साह को आप ऐसा विशेषण दें, तो मैं इसे जरूर अपना अपमान समझूँगा। मुझे विश्वास है कि आप भी अपने को उस नियम के अपवाद-रूप ही मानते होंगे। अगर आप अपने को स्थिरोत्साह न मानते हों, और साथ ही यदि आप अपने ऊपर से कौम के उत्साह का अनुमान करते हों, तो उस हालत में भी उपर्युक्त अनुमान द्वारा आप जाति का अपमान ही कर रहे हैं। ऐसे महान् युद्ध में ज्वार-भाटा तो आता ही रहता है। हम चाहे कितनी ही सावधानी रक्खें, पर यदि प्रति-पक्षी हमारे साथ विश्वास-घात

ही करने पर तुला हुआ हो, तो हम उसे किस तरह रोक सकते हैं ? इसी मंडल में ऐसे कई लोग हैं जो नालिश करने के लिए मेरे पास प्रॉमिसरी नोट्स लाते हैं। अपने दस्तखत तक दे कर के जिसने अपने को बाँध लिया है, ऐसे आदमी के साथ हम और कितनी सावधानी कर सकते हैं ? पर फिर भी हमें अदालत में उससे लडना ही पडता है। वह सामना करता है, अनेक प्रकार से बचाव करता है, फैसला होता है और सजायें भी ठोंक दी जाती हैं। इस तरह की घटनाओं के लिए भी कहीं कोई दवा या सावधानी हो सकती है, जिससे वे फिर से न होने पावें ? इसलिए मेरी तो यही सलाह है कि जिस उलझन में हम जा गिरे हैं, उसे धीरज के साथ सुलझावें। हमें तो अब यही विचार करना चाहिए कि यदि हमें फिर से लड़ना पड़ा तो आगे क्या करना चाहिए ? अर्थात् इस बात का विचार छोड़कर कि दूसरे लोग क्या करेंगे हमें तो यही सोचना चाहिए कि प्रत्येक सत्याग्रही स्वयं क्या करेगा या क्या कर सकता है। मेरा तो यह ख्याल है कि यदि इतने सब हम सच्चे बने रहेंगे तो दूसरे भी वैसे ही दृढ़ रहेंगे। अथवा यदि उनमें किसी प्रकार की कमजोरी आ भी गई तो वे हमारा उदाहरण लेकर अपनी उस दुर्बलता को दूर कर देंगे।

मुझे मालूम होता है, जिन भाइयों ने पुनः लड़ाई चला सकने के विषय में, शुभ हेतु से ही ताने के रूप में शङ्का प्रकट की थी, वे भी समझ गये। इन दिनों काछलिया प्रतिदिन अपनी अपूर्व सत्यप्रियता तथा निश्चय का परिचय दे रहे थे। तमाम बातों में कम से कम बोल कर वे अपना निश्चय जाहिर कर देते, और उस पर अड़े रहते। मुझे तो ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं,

जिसमें उन्होंने दुर्बलता जाहिर की हो, अथवा अन्तिम परिणाम के विषय में कोई शङ्का ही प्रकट की हो। शीघ्र ही ऐसा अवसर आया, कि जब ईसप मियां ने तूफानी समुद्र में कर्णधार बने रहने से इन्कार कर दिया। उस समय सब ने एक मत से काछलिया का स्वागत किया। तब से लगा कर आखिरी घड़ी तक उन्होंने पतवार पर से अपना हाथ नहीं हटाया। और यह करते हुए उन्होंने उन तमाम मुसीबतों का निश्चिन्त और निर्भय हो कर सामना किया, जिनको शायद ही अन्य कोई सहन कर सकता। ज्यों ज्यों युद्ध आगे बढ़ने लगा त्यों त्यों ऐसा समय भी आने लगा कि कितने ही लोगों के लिए जेल में चले जाना एक आसान काम हो गया। क्योंकि वहाँ उन्हें आराम मिलता, और बाहर रहना इससे कहीं अधिक मुश्किल था। यहाँ तो हर बात का सूक्ष्म विचार करके उसकी उचित व्यवस्था करनी पड़ती, और अनेक मनुष्यों को समझाना पड़ता। यह सब जेल में जाने की अपेक्षा बहुत ज्यादह मुश्किल था। अब अवसर पाकर गोरे कर्जदारों ने काछलिया सेठ को अपने सिकंजे में पकड़ा।

कई भारतीय व्यापारियों को अपने व्यापार के लिए गोरे व्यापारियों की कोठियों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। वे लाखों रुपयों का माल बिना किसी प्रकार की रहन के केवल भारतीय व्यापारियों के विश्वास पर दे दिया करते हैं। सचमुच, भारतीय व्यापार की प्रमाणिकता का यह एक सुन्दर नमूना है कि वे वहां पर इतना विश्वास सम्पादन कर सके हैं। काछलिया सेठ के साथ भी कई अंग्रेजी फर्मों का इसी प्रकार का लेन देन का सम्बन्ध था। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, किसी प्रकार

सरकार की ओर से इशारा मिलते ही, ये व्यापारी लगे काछलिया सेठ से अपनी वे सब मुद्रायें मांगने, जो उनकी तरफ लेना निकलती थीं। उन्होंने तो काछलिया सेठ को बुलवा कर यहाँ तक कहा कि 'यदि आप इस युद्ध से अपना अंग बचा लें तब तो आपको उन मुद्राओं के लिए किंचिन्मात्र भी जल्दी करने की आवश्यकता नहीं है। अगर आप यह न करें तो हमें यह भय हमेशा रहेगा कि सरकार आपको न जाने किस वक्त पकड़ लेती है। और यदि ऐसा ही हुआ तो फिर हमारी मुद्राओं का क्या होगा ? इसलिए यदि इस युद्ध में से अपना अंग हटा लेना आपके लिए किसी प्रकार असंभव हो, तो हमारी मुद्राएँ आपको इसी समय लौटा देनी चाहिए। इस वीर पुरुष ने उत्तर दिया "युद्ध तो मेरी व्यक्तिगत वस्तु है। मेरे व्यापार के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। अपने धर्म, अपनी जाति के सम्मान, और स्वयं मेरे स्वाभिमान की रक्षा के लिए यह युद्ध छिड़ा हुआ है। आपने मुझे केवल विश्वास पर जो माल दिया है उसके लिए मैं आपका जरूर एहसानमन्द हूँ। पर इसलिए मैं न तो उस कर्ज़ को और न मेरे व्यापार को ही सर्वोपरि स्थान दे सकता हूँ। आपके पैसे मेरे लिए सोने की मुहरें हैं। अगर मैं जिन्दा रहा, तो अपने आपको वेंच कर भी आपके पैसे लौटा दूँगा। पर मान लीजिए कि मेरा और कुछ हो गया, तो उस हालत में आप यह विश्वास रक्खें कि मेरा माल और तमाम उधाई आपके हाथों में ही है। आज तक आपने मेरा विश्वास किया है। मैं चाहता हूँ कि आगे के लिए भी आप इसी प्रकार मेरा विश्वास करें।" यह दलील बिलकुल ठीक थी। काछलिया की दृढ़ता को देखते हुए गोरों को इनपर और भी विश्वास होना चाहिए

था। पर बात यह थी, कि इस समय उन लोगों पर इसका कोई असर नहीं हो सकता था। हम सोए हुए आदमी को तो जगा सकते हैं, पर सोने का ढोंग बनाने वाले को नहीं। यही हाल उन गोरे व्यापारियों का भी हुआ। वे तो काछलिया सेठ को दबाना चाहते थे, उनकी लेन-देन थोड़े ही डूबने चली थी।

मेरे दफ्तर में लेनदारों की एक मीटिंग हुई। मैंने उन्हें साफ साफ शब्दों में कह दिया, कि आप इस समय जो काछलिया सेठ को दबाना चाहते हैं उसमें व्यापार-नीति नहीं राजनैतिक चाल है। व्यापारियों को यह काम शोभा नहीं देता। पर वे तो और भी चिढ़ गये। काछलिया सेठ के माल और उघाई दोनों की फेहरिस्त मेरे पास थी। उसे मैंने उन व्यापारियों को दिखाया। यह भी सिद्ध कर दिखाया कि उससे उन्हें अपना पूरा धन मिल सकता है, और कहा—'इतने पर भी यदि आप इस तमाम व्यापार को किसी दूसरे आदमी के हाथ वेंच देना चाहते हों तो काछलिया सेठ अपना तमाम माल और उघाई खरीदार को सौंपने के लिए भी तैयार हैं। यदि यह भी आपको स्वीकार न हो, तो दूकान में जितना भी माल है, उसे मूल कीमत में आप ले लें। केवल माल से यदि काम न चले तो उसके बदले में उघाई में से जिसे पसन्द करें आप ले लें।" पाठक सोच सकते हैं कि गोरे व्यापारी यदि इस प्रस्ताव को मंजूर कर लेते तो उनकी कोई हानि नहीं होती। (और कई मवक्किलों के संकट-समय में मैंने उनके कर्ज़ की यही व्यवस्था की थी) पर इस समय व्यापारी न्याय न चाहते थे। काछलिया नहीं झुके और वे दिवालिये देनदार साबित हुए।

पर यह दिवालियापन उनके लिए कलङ्क-रूप नहीं, बल्कि भूषण था। इससे कौम में उनकी इज्जत-आबरु कहीं बढ गई और उनकी दृढ़ता और बहादुरी पर सब ने उनको बधाई दी। यह वीरता तो अलौकिक है। सामान्य मनुष्य उसको भली भाँति नहीं समझ सकते। सामान्य मनुष्य तो यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि दिवालियापन एक बुराई और बदनामी के बदले सम्मान और आदर की वस्तु किस तरह हो सकती है। पर काछलिया को तो यही बात स्वाभाविक मालूम हुई। कई व्यापारियों ने केवल इसी भय के कारण खूनी कानून के सामने सिर झुका लिया कि कहीं उनका दिवाला न निकल जावे। काछलिया भी यदि चाहते तो इस नादारी से छूट सकते थे। युद्ध से विमुख होकर तो वे अवश्य ही ऐसा कर सकते थे। पर इस समय मैं कुछ और ही कहना चाहता हूँ। कई भारतीय काछलिया के मित्र थे जो उनको इस संकट समय में कर्ज़ दे सकते थे। पर यदि वे इस तरह अपने व्यापार को बचा लेते, तब उनकी बहादुरी में धब्बा नहीं लग जाता? कैद की जोखिम तो उनकी भाँति दूसरे सत्याग्रहियों के लिए भी थी। इसलिए यह तो उनसे हरगिज नहीं हो सकता था, कि वे सत्याग्रहियों से पैसे लेकर गोरे व्यापारियों का ऋण अदा कर दें। पर सत्याग्रही व्यापारियों के समान ही अन्य भारतीय भी उनके मित्र थे, जिन्होंने खूनी कानून के सामने सिर झुका दिया था। और मैं जानता हूँ कि उनकी सहायता भी काछलिया सेठ को मिल सकती थी। जहां तक मुझे याद है, एक दो मित्रों ने उन्हें इस विषय में कहलाया भी था। पर उनकी सहायता लेने का अर्थ तो यही न होता कि हमने इस

बात को स्वीकार कर लिया, कि खूनी कानून को मानने ही में बुद्धि मानी है। इसलिए हम दोनों इसी निश्चय पर पहुँचे कि उनकी सहायता का स्वीकार हमें कदापि नहीं करना चाहिए। फिर हम दोनों ने यह भी सोचा कि यदि काछलिया अपने को नादार कहलाएंगे तो उनकी नादारी दूसरों के लिए ढाल का काम देगी। क्योंकि अगर सौ में पूरी सौ नहीं तो फी सदी निन्यानवे नादारियों में लेनदार को नुकसान उठाना-पड़ता है। अगर उनके लेने में से फी सदी पचास भी मिल जाते हैं तो भी वे खुश होते हैं। जब फी सदी पचहत्तर मिल जायँ तब तो वे उसी को पूरे सौ ही मान लेते हैं। क्योंकि दक्षिण आफ्रिका में प्रतिशत ६।) नहीं बल्कि फी सैकड़ा २५) नफा लिया जाता है। इसलिए अपनी लेन में से फी सैकड़ा ७५ मिलने तक तो वे उसे घाटे का व्यवहार नहीं मानते। किन्तु नादारी में पूरा पूरा तो शायद ही कभी मिलता है। इस-लिए कभी कोई लेनदार यह नहीं चाहता कि उसका कर्जदार दिवालिया हो जाय।

इसलिए काछलिया का उदाहरण दिखा कर गोरे लोग दूसरे व्यापारियों को धमकी नहीं दे सकते थे। और हुआ भी ऐसा ही। गोरे चाहते थे कि काछलिया को युद्ध से अपना अंग हटा लेने के लिए मजबूर करें, और यदि काछलिया इसे मंजूर न करें तो उन से पूरे सौ के सौ वसूल करें। पर इन दो में से उनका एक भी हेतु सिद्ध न हुआ। इसका तो उलटे एक विपरीत ही परिणाम हुआ। एक प्रतिष्ठित भारतीय व्यापारी को इस तरह नादारी का स्वागत करते हुए देख कर, गोरे व्यापारी चकित हो गये, और हमेशा के लिए शान्त हो गये। परन्तु इधर एक साल के अन्दर ही

काछलिया के माल में से ही गोरे व्यापारियों को पूरे सौ के सौ मिल गये। दक्षिण आफ्रिका में दिवालिया देनदार से लेनदार को पूरे सौ के सौ मिल जाना यह अपनी जानकारी में मेरा पहला ही अनुभव था। युद्ध शुरू हो गया था। पर फिर भी इससे गोरे व्यापारियों में काछलिया का सम्मान बेहद बढ गया। आगे चलकर युद्ध-काल में उन्हीं व्यापारियों ने काछलिया को मनमाना माल देने के लिए अपनी तत्परता दिखाई ? पर काछलिया का बल तो दिन ब दिन बढता ही जा रहा था। युद्ध के रहस्य को भी वे भली भांति समझ चुके थे। और यह तो कौन कह सकता था कि युद्ध शुरू होने के बाद वह कितने रोज चलेगा। इसलिए नादारी के बाद हमने तो यही निश्चय कर लिया कि लम्बे चौडे व्यापार की झंझट में पडना ही नहीं। उन्होंने भी निश्चय कर लिया कि अब, जब तक युद्ध समाप्त नहीं होता, उतना ही व्यापार किया जाय कि जिससे एक गरीब मनुष्य अपना निर्वाह कर सके, इससे ज्यादह नहीं। इसलिए गोरों ने जो अभिवचन दिया उसका उपयोग उन्होंने नहीं किया। काछलिया सेठ के जीवन की जिन घटनाओं का वर्णन मैं कर चुका हूं वे कमिटी की मीटिंग के बाद हुई हों सो बात नहीं। पर मैंने उन्हें यहां पर इसीलिए लिख देना ठीक समझा कि उनको कहीं एक ही बार दे देना योग्य होगा। अगर तारीख वार देखा जाय तो दूसरा युद्ध शुरू होने पर कितने ही समय बाद काछलिया अध्यक्ष हुए। और नादार होने के पहले इसके बाद और भी कितना ही समय बीत गया।

अब हम कमिटी के परिणामों पर विचार करें। इस मीटिंग के बाद मैंने जनरल स्मट्स् को इस आशय का एक पत्र लिखा

कि उनका वह नवीन वक्तव्य सुलह का भंग करता है। अपने पत्र में मैंने उनके उस भाषण की ओर भी उनका ध्यान आकर्षित किया, जो सुलह के बाद एक सप्ताह के अन्दर ही उन्होंने दिया था। उस भाषण में उन्होंने ये शब्द कहे थे। "ये लोग (एशियावासी) मुझे एशियाटिक कानून रद करने के लिए कह रहे हैं। जब तक ऐच्छिक परवाने वे नहीं ले लेते तब तक उस कानून को रद करने से मैंने इन्कार किया है।" अधिकारी लोग प्राय: ऐसी बातों का जवाब नहीं देते जो उन्हें उलझन में डालती है। अगर देते भी हैं तो गोल मोल। जनरल स्मट्स इस कला में सिद्धहस्त हैं। उन्हें आप चाहे जितना लिखें, उनके विरुद्ध चाहे जितने भाषण करें, पर यदि वे उत्तर देना नहीं चाहेंगे तो उत्तर में उनके मुंह से एक शब्द भी निकलवाना असम्भव है। सभ्यता का यह सामान्य नियम उनके लिए बन्धनकारक नहीं हो सकता था कि प्राप्त पत्रों का उत्तर देना ही चाहिए। इसलिए अपने पत्र के उत्तर में मुझे किसी प्रकार का सन्तोष प्राप्त नहीं हो सका।

अल्बर्ट कार्ट राईट हमारे मध्यस्थ थे। मैं उन से मिला, वे स्तब्ध हो गये, और मुझ से कहने लगे "सचमुच मैं इस आदमी को समझ ही नहीं सकता। एशियाटिक कानून को रद करने वाली बात मुझे बिलकुल ठीक ठीक तरह से याद है। मुझ से जो बन पड़ेगा मैं जरूर करूंगा। पर आप जानते हैं कि जहां यह आदमी किसी एक बात को पकड़ लेता है तहां फिर दूसरे की नहीं चलती। अखबारों के लेखों की तो वह जरा भी परवा नहीं करता। इसलिए मुझे पूरा डर है कि मेरी सहायता का आपको कोई उपयोग न होगा।" हास्किन वगैरा से भी मैं मिला। उन्होंने जनरल

स्मट्स को एक पत्र लिखा। उन्हें भी बड़ा ही असंतोषकारक उत्तर मिला। मैंने इण्डियन ओपीनियन में भी 'विश्वासघात' शीर्षक कई लेख लिखे पर जनरल स्मट्स क्यों इन बातों की परवा करने चले हैं? तत्ववेत्ता अथवा निष्ठुर मनुष्य के लिए आप चाहें जितने कड़ुवे विशेषणों का प्रयोग करें, उन पर कोई असर न होगा। वे तो अपना निश्चित काम करने में मस्त रहते हैं। मैं नहीं जानता कि जनरल स्मट्स के लिए इन दो विशेषणों में से किस विशेषण का उपयोग ठीक हो सकता है। यह तो मुझे जरूर कबूल करना होगा कि उनकी वृत्ति में एक तरह की 'फिलासुफी'—सिद्धान्त—निष्ठा है। मुझे याद है कि जिस समय हमारा पत्र-व्यवहार जारी था। अखबारों में लेख लिखे जा रहे थे तब तो मैं उन्हें निष्ठुर ही समझता था पर अभी तो यह युद्ध का पूर्वार्ध—केवल दूसरा वर्ष था, युद्ध तो आठ वर्ष तक जारी रहा। इस बीच मैं उनसे कई बार मिला। बाद की हमारी बातों से मेरा यह ख्याल कुछ बदल गया, और मैंने महसूस किया कि जनरल स्मट्स की धूर्तता के विषय में दक्षिण आफ्रिका में बनी हुई सामान्य धारणा में कुछ परिवर्तन होना ज़रूरी है। दो बातें मैं पूरी तरह समझ गया। एक तो यह कि उन्होंने अपनी राजनीति के विषय में एक मार्ग निश्चित कर लिया है, और वह केवल अनीतिमय तो हरगिज़ नहीं। पर साथ ही मैंने यह भी देख लिया कि उनके राजनीति-शास्त्र में चालाकी के लिए और मौका पड़ने पर सत्याभास के लिए भी स्थान है।*

---

* यह छपते हुए हम यह जान गये कि जनरल स्मट्स की सरदारी का भी अन्त हो सकता है।

मो० क० गांधी

दूसरा अध्याय

युद्ध की पुनरावृत्ति

एक तरफ तो जनरल स्मट्स से यह अनुरोध किया जा रहा था, कि वे समझौते की शर्तों का पालन करें। इधर दूसरी ओर कौम को पुनः जागृत करने का काम जोरों से जारी था। और पाया यह गया कि प्रत्येक जगह पर युद्ध फिर शुरू करने, तथा जेल जाने के लिए लोग तैयार मिलने लगे। सब जगह फिर से सभायें शुरू कर दी गई। सरकार और कौम के बीच जो पत्र-व्यवहार जारी था, उसे समझाया गया। इण्डियन ओपीनियन में तो हर सप्ताह का रोज़नामचा छप रहा था। इसलिए कौम सब बातों से पूरी तरह वाकिफ रहती। सबको समझा दिया गया कि ऐच्छिक परवाने निरर्थक साबित होंगे। अगर किसी न किसी तरह खूनी कानून रद्द न हो पाया, तो हमें उन परवानों को जला ही देना चाहिए। जिससे स्थानीय सरकार समझ ले कि कौम अपने निश्चय पर अटल है, निश्चिन्त है बल्कि जेल जाने तक के लिए तैयार है। और इसी हेतु से प्रत्येक जगह से परवाने भी इकट्ठे किये जा रहे थे।

सरकार की तरफ से उस मसविदे को मंजूर करने की तैयारियाँ होने लगीं, जिसका हाल हम पिछले प्रकरण में पढ चुके हैं।

ट्रांसवाल की धारा-सभा की बैठकें शुरू हुईं। कौम ने उसमें भी अपनी दरख्वास्त भेजी। नतीजा कुछ न निकला। अन्त में सत्याग्रहियों ने 'अल्टिमेटम्' भेजा। अल्टिमेटम् के मानी हैं वह निश्चय-पत्र या धमकी-पत्र, जो युद्ध करने के हेतु से ही भेजा जाता है। कौम ने 'अल्टिमेटम्' शब्द का उपयोग नहीं किया था। पर कौम की तरफ से अपना निश्चय जाहिर करने वाला जो पत्र गया था, उसका परिचय जनरल स्मट्स ने धारा-सभा में 'अल्टिमेटम्' नाम से ही दिया। साथ ही यह भी कहा कि "जो लोग सरकार को इस तरह धौंस बताने जा रहे हैं, उन्हें सरकार की शक्ति का अनुमान नहीं है। मुझे दुःख तो केवल इसी बात का हो रहा है कि कितने ही उपद्रवी लोग (एजिटेटर) गरीब भारतीयों को उकसा रहे हैं। यदि गरीब लोगों पर उनका प्रभाव पड़ा तो वे बरबाद हो जावेंगे। अखबारों के संवाद-दाताओं ने इस प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखा है कि धारा-सभा के कई सदस्य अल्टिमेटम् का नाम सुनते ही आग-बबूला हो गये। उनकी आँखों में खून उत्तर आया, और उन्होंने जनरल स्मट्स द्वारा पेश किया गया मसविदा एक मत से मंजूर कर लिया।

उपर्युक्त 'अल्टिमेटम्' में केवल यही बातें थीं—'जनरल स्मट्स और भारतीय जनता के बीच जो समझौता हुआ था उसमें मुख्य बात यही थी कि भारतीय यदि ऐच्छिक परवाने ले लें तो उनको कानूनन करार देने के लिए धारासभा में एक मसविदा पेश किया जाय, और एशियाटिक कानून रद किया जाय। यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि भारतीयों ने ऐच्छिक परवाने ठीक उसी तरह ले लिये जैसा कि सरकारी अधिकारी-गण चाहते थे। इसलिए

अब ऐशियाटिक कानून तो अवश्य ही रद होना चाहिए। कौम ने जनरल स्मट्स से इस विषय में खूब लिखा पढ़ी की। अलावा इसके, न्याय प्राप्त करने के लिए जितने भी कुछ अन्य उपायों का अवलबंन करना जरूरी और उचित था, वह सब कुछ कर गुजरी। पर उसका यह सारा प्रयत्न निष्फल हुआ। मसविदा धारासभा में स्वीकृत होने ही को है, इस समय कौम में जो अशान्ति और उत्तेजना फैली हुई है उसको सरकार पर जाहिर कर देना नेताओं का कर्तव्य है। अतः अब हमें दुःख के साथ यह कहना पड़ता है कि यदि समझौते की शर्तों के अनुसार एशियाटिक कानून रद नहीं किया गया, और यदि ऐसा करने के सम्बन्ध में उसके निश्चय की खबर एक नियत समय से पहले कौम को न मिली तो, वह उन तमाम परवानों को जला देगी, जिनको उसने एकत्र कर रक्खा है, और यह करने पर उस पर जो जो मुसीबतें आवेंगी उन सब को वह विनय और दृढ़तापूर्वक सह लेगी।'

वह कागज एक तो इसलिए 'अल्टिमेटम्' कहा गया कि उसमें जवाब के लिए समय बता दिया गया था। और दूसरा कारण यह था कि गोरों का साधारणतया यही ख्याल था कि हिन्दुस्तानी लोग जंगली होते हैं। अगर गोरे लोग भारतीयों को अपने ही जैसा समझते, तो वे इस कागज को विनय-पत्र कहते, और उसपर गौर करते। पर गोरों का यह जंगलीपन का ख्याल ही भारतीयों के लिए ऐसा कागज लिखने के लिए काफी कारण था। अब कौम के सामने दो समस्यायें थीं, एक तो यह कि खुद को जंगली समझ कर वह हमेशा के लिए दबी रहे, और दूसरी यह कि जंगलीपन को असत्य साबित करनेवाला कोई असली काम करके दिखा दे।

और इस दिशा में सब से पहला कदम यही कागज था। हाँ यदि कौम ने उस पर अमल करने का दृढ़ निश्चय न किया होता, तो ज़रूर ही वह उद्धत समझा जाता और यह साबित होता कि भारतीय अविचारी तथा अनघड़ हैं।

पाठकों के दिल में एक शंका हो सकती है। इस 'जंगलीपन' का इन्कार तो पहले पहल १९०६ में ही कर दिया गया था, जब कि सत्याग्रह की प्रतिज्ञा ली गई थी। और यदि यह सत्य है, तो इस कागज में ऐसी कौन भारी विशेषता थी जिसके कारण मैंने उसे इतना महत्व दे रक्खा है 'और मैं यह कह रहा हूं कि इस कागज के द्वारा ही कौम ने अपने जंगली होने का इन्कार करना आरम्भ किया। एक दृष्टि से यह दलील सत्य मानी जा सकती है। पर जरा गहरा विचार करने पर मालूम होगा कि इन्कार करने का सच्चा आरम्भ तो निश्चय-पत्र से ही होता है। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि सत्याग्रह की प्रतिज्ञा की घटना तो अनायास ही हो गई थी; उसके बाद की कैद वगैरा भी उसका एक अनिवार्य परिणाम मात्र था, और उसमें कौम ने विजय भी अज्ञाततः ही प्राप्त की थी। इस कागज के समय तो सम्पूर्ण ज्ञान और अपनी प्रतिष्ठा के लिए दावा करने का स्पष्ट हेतु भी था। पहले की तरह खूनी कानून को रद करने का हेतु तो अब भी जरूर था। पर इसके साथ ही साथ भाषा, शैली, कार्य-पद्धति का चुनाव आदि में भी काफी फर्क था। गुलाम मालिक को सलाम करता है 'और एक मित्र भी अपने मित्र को सलाम करता है। हैं तो दोनों ही सलाम पर उन दोनों में इतना फर्क है कि एक तटस्थ प्रेक्षक फौरन एक को गुलाम और दूसरे को मित्र समझ जाता है।

अल्टिमेटम भेजते समय हम लोगों में यह चर्चा भी हुई थी कि समय देकर उत्तर मांगना कहीं अविनय में तो नहीं शुमार होगा? कहीं ऐसा न हो कि स्थानीय सरकार हमारी मांग को स्वीकार करने जा रही हो, और इस कागज को पढकर चिढ जाय और उसका अस्वीकार कर दे। क्या, केवल अप्रत्यक्ष रूप से क़ौम का निश्चय जाहिर कर देना ही काफी न होगा? इस तरह सोच विचार के बाद हम सब एक मत से इसी निर्णय पर पहुंचे कि जो सत्य और योग्य हो, वही किया जाय। इसके लिए यदि अविनयी होने का दोष हमारे सिर मढा जाय, तो उसे भी हमें सह लेना चाहिए। सरकार यदि हमारे साथ न्याय करना चाहती हो, और इस कागज को पढ़कर वह झूट-मूट ही नाराज होने का बहाना कर के न्याय करने से इन्कार भी कर दे, तो परवा नहीं। इस जोखिम को भी हमें झेल लेना चाहिए। अगर हम यह कबूल करने के लिए तैयार नहीं कि मनुष्य की हैसियत से हम किसी भी तरह हीन हैं, और साथ ही अनियमित समय तक तमाम दुखों को सहने के लिए तैयार हैं, तब तो हमें वही रास्ता ग्रहण करना होगा जो सरल और योग्य हो।

अब शायद पाठक देख सकेंगे कि इस बार के निश्चय में कुछ और ही नवीनता, कुछ और ही विशेषता थी। उसकी प्रतिध्वनि धारासभा और गोरों के मंडलों में भी सुनाई दी। कितनों ही ने भारतीयों की हिम्मत की तारीफ की। पर कितने ही गोरे आग बबूला भी हो गये। उनके मुँह से तो ये उद्गार भी निकलने लगे कि हिन्दुस्तानियों को इस उद्दण्डता के लिए जरूर ही सजा देनी चाहिए। दोनों पक्षों ने अपनी चाल-ढाल से भारतीयों के इस कार्य की नवीनता

को स्वीकार किया। यद्यपि उस समय सत्याग्रह एक दम नवीन वस्तु थी। पर फिर भी पिछले सत्याग्रह की अपेक्षा इस पत्र द्वारा कहीं ज्यादह हल चल मच गई। इसका एक प्रत्यक्ष कारण भी है। जिस समय सत्याग्रह शुरू हुआ था, उस समय कौम की शक्ति का ठीक ठीक पता भी किसी को न था। उस समय न तो ऐसा कागज और न उसकी भाषा ही शोभा दे सकती थी। पर अब तो कौम थोड़ी बहुत कसौटी पर चढ़ चुकी थी। और इस बात को सभी जान गये थे कि सामाजिक मुसीबतों का सामना करते हुए आने वाले कष्टों को सहने की शक्ति कौम में है। इसलिए निश्चय-पत्र की भाषा स्वभावतः अशोभनीय नहीं, बल्कि प्रभावशाली ही मालूम हुई।

तीसरा अध्याय

ऐच्छिक परवाने की होली

अल्टिमेटम् अथवा निश्चय-पत्र की आखिरी मीयाद का दिन वही रक्खा गया था, जिस दिन कि वह दूसरा एशियाटिक कानून मंजूर होने को था। मीयाद बीतने के दो घंटे बाद परवाने जलाने का सार्वजनिक समारोह करने के हेतु एक सभा निमन्त्रित की गई थी। सत्याग्रह-कमिटी ने सोचा था कि यदि कहीं सरकार अनुकूल उत्तर भेज दे, यद्यपि एक अकल्पित बात ही होती तो भी वह सभा निरर्थक न सिद्ध होगी। क्योंकि यदि ऐसा ही हुआ तो उस सभा द्वारा सरकार का अनुकूल निश्चय भी जाहिर किया जा सकता था।

कमिटी का ख्याल तो यह था कि सरकार निश्चय-पत्र का कोई उत्तर ही न देगी। हम सब पहले ही से सभा-स्थान पर पहुंच गये थे। यह व्यवस्था भी कर दी गई थी कि यदि कहीं सरकार का उत्तर तार से आया तो वह भी फौरन मिल जाय। नियमानुसार सभा मस्जिद की सड़क पर भरी थी, और समय चार बजे का था। मस्जिद वाला मैदान भारतीयों से खचाखच भर गया। दक्षिण आफ्रिका के हब्सी लोग अपना खाना पकाने के लिए चार

पांव वाली कढ़ाइयाँ रखते हैं, जो आवश्यकतानुसार छोटी या बड़ी भी होती हैं। इसी तरह की बड़ी से बड़ी एक कढ़ाई, जो वहां मिल सकी, परवाने जलाने के लिए एक भारतीय व्यापारी की दूकान से माँग लाये थे, और उसे एक कोने में ऊंचे मंच पर रखा दिया गया था।

सभा शुरू करने का समय हुआ, कि इतने ही में एक स्वयं-सेवक बाई-सिकल पर चढ़ कर आ पहुंचा। उसके हाथ में तार था। वह सरकार का उत्तर था। उसमें कौम के निश्चय पर दुःख प्रकट करते हुए यह जाहिर किया था कि सरकार अपने निश्चय को नहीं बदल सकती। तार सभा को पढ़ कर सुना दिया गया। सभा ने उसका बड़ा स्वागत किया, मानों सरकार यदि निश्चय-पत्र की मांग को मंजूर कर लेती, तो परवानों की होली जलाने का शुभ अवसर हाथ से मारा जाता। यह कहना महा कठिन है कि इस हर्ष को योग्य कहा जाय या अयोग्य। इसकी योग्यायोग्यता का निर्णय तो तब तक नहीं दिया सकता, जब तक कि हम सरकार के इस उत्तर का करतल-ध्वनि से स्वागत करने वालों के हेतु को नहीं जान लेते। हां, इतना तो जरूर कहा जा सकता है कि यह प्रसन्नता सभा के उत्साह की सुन्दर निशानी थी। सभा अपनी शक्ति को कुछ कुछ पहचानने लग गई थी। अस्तु।

सभा का कार्य शुरू हुआ। अध्यक्ष ने सभा को सावधान किया। परिस्थिति को समझाया। प्रसंगोचित प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। जो भिन्न भिन्न परिस्थितियां खड़ी हो गई थीं उन सब को मैंने समझाया और कहा 'जिन भाइयों ने अपने परवाने जलाने के लिए दिये हैं, यदि वे चाहें तो उन्हें वापिस ले सकते हैं। परवानों को जला देना मात्र कोई अपराध नहीं है, और न केवल यह कर

लेने भर से उनकी इच्छा पूरी हो सकती है जो जेल जाना चाहते हैं। परवाने जला कर तो हम केवल अपना यह निश्चय जाहिर करते हैं, कि हम खूनी कानून के सामने अपना सर नहीं झुकावेंगे, और न हम इतनी शक्ति भी अपने पास रखना चाहते हैं कि मौका पड़ने पर, भारी मुसीबत के समय, झट परवाना दिखा कर छूट जायँ। यदि कोई इस सभा में सब के साथ अपना परवाना भी जला दे और कल ही जा कर फिर नया परवाना ले आवे, तो उसे कोई रोक नहीं सकता। पर जो यह कुकर्म करना चाहता हो, और जिसे यह सन्देह हो कि परीक्षा के समय शायद मैं मजबूत न रह सकूँगा, उसके लिए भी अभी समय है। वह अपना परवाना वापिस ले सकता है। जिसे अपना परवाना वापिस लेने की इच्छा हो, उसे इस समय जरा भी लज्जा या संकोच न करना चाहिए। लज्जा और संकोच का कोई कारण ही नहीं। मैं तो इसे एक प्रकार की बहादुरी कहूंगा। हां, बाद में परवाने की नकल लेना जरूर लज्जा और बदनामी की बात कही जा सकती है। उससे कौम की हानि भी होगी। एक बात और है। कौम को यह भी याद रखना चाहिए कि, सम्भव है, युद्ध बहुत दिन चले। हम यह भी जानते हैं कि हम में से कितने ही अपने निश्चय से गिर गये हैं, अतः यह तो जाहिरा बात है कि अब जो बचे रह गये हैं उनको कौम का गाडा उतनी ही अधिक ताक़त के साथ खींचना होगा। इसलिए आप सब से मेरी यह सलाह है कि आज का यह साहस, कार्य करने से पहले हम इन सब बातों का पूरा पूरा विचार कर लें।

मेरे भाषण के बीच में सभा से यह आवाज तो उठती ही

रहती थी कि 'हमें परवानों की जरूरत नहीं है। उनको जला दीजिए।' अन्त में मैंने उन लोगों को अपनी बाजू सभा के सामने रखने के लिए कहा जो इस कार्य का विरोध जाहिर करने की इच्छा रखते हों। पर कोई खड़ा न हुआ। वह पुराना मित्र मीर आलम भी इस सभा में हाज़िर था। खड़े होकर उसने कहा कि 'मैंने बड़ी भूल की जो आपको मारा था' और उसने अपना असल परवाना जलाने के लिए मुझे सौंप दिया। ऐच्छिक परवाना तो उसने लिया ही नहीं था। मैंने मीर आलम का हाथ पकड़ कर प्रेम-पूर्वक दवाया और उसे फिर से कह सुनाया कि मेरे दिल में तो कभी किसी प्रकार का रोष था ही नहीं। मीर आलम के इस कार्य से सभा को असीम हर्ष हुआ।

इस समय कमिटी के पास २००० से भी अधिक परवाने जलाने के लिए आ पहुंचे थे। उनके बंडल को मैंने उस कढाई में फैलाया, ऊपर से मिट्टी का तेल छिडका और लगाई दिया सलाई! एकाएक सारी सभा खडी हो गई, और जब तक वे परवाने जलते रहे तालियों से उसने सारे मैदान को गूंजा दिया! कितने ही, लोगों ने अब तक भी अपने परवानों को अपने पास ही रख छोड़ा था। अब उनकी वर्षा मंच पर होने लगी। उन्हें भी उस कढाई में डाल दिया गया। जब उनसे पूछा गया कि होली जलाने से पहले ही परवाने क्यों नहीं दिये, तब कई लोगों ने उत्तर दिया कि हमारा ख्याल था कि होली जलने के बाद देने में अधिक शोभा है, और उसका असर भी अधिक पडता है। दूसरे कितनों ही ने साफ तौर से कबूल कर लिया कि 'हमें हिम्मत ही नहीं पडती थी। आखिरी घडी तक हमें यही सन्देह था कि शायद परवाने न भी जलाये

जावें। पर अब यह होली देख कर तो हम से जरा भी न रहा गया। जो सब की गति होगी, वही हमारी भी होगी'। इस तरह की अव्याज सरलता के कई नमूने हमें उस युद्ध में मिले। अंगरेजी अखबारों के सम्वाददाता भी इस सभा में आये थे। उन पर भी उस तमाम दृश्य का बडा सुन्दर असर पडा। उन्होंने अपने समाचार-पत्रों को सभा का पूरा वर्णन भेजा था। इंग्लैण्ड की 'डेली मेल' के जोहान्सबर्ग वाले सम्वाददाता ने भी अपने 'पत्र' को सभा का वर्णन भेजा था। उसने परवानों को इस होली की तुलना उस घटना के साथ की थी, जब अमेरिका के अंगरेजों ने इंग्लैण्ड से भेजी हुई चाय की पेटियों को बोस्टन में बन्दरगाह के डुबो कर अपना यह निश्चय जाहिर किया था कि वे कभी इंग्लैण्ड की अधीनता नहीं स्वीकार करेंगे। दक्षिण आफ्रिका में एक तरफ तो था १३००० भारतीयों का निराधार समुदाय और दूसरी ओर था ट्रान्सवाल का बलशाली राज्य! उधर अमेरिका में एक तरफ हर बात में कुशल गोरे लोग थे और दूसरी तरफ अँगरेजी सल्तनत। मेरा तो ख्याल है कि इन दोनों की तुलना कर 'डेलीमेल' के सम्वाददाता ने भारतीयों के विषय में जरा भी अत्युक्ति नहीं की। भारतीयों के पास तो सिवा अपने सत्य और परमात्मा के ऊपर श्रद्धा के और कोई हथियार ही नहीं था। इसमें शक नहीं कि एक श्रद्धालु मनुष्य के लिए यही हथियार सर्वोपरि है। परन्तु जन-समाज में अभी यह दृष्टि नहीं आई। तब तक निःशस्त्र १३००० भारतीय सशस्त्र गोरों के मुकाबले में निर्बल ही समझे जावेंगे। पर वह दयाघन तो "निर्बल का बल राम" है न? इसलिए यही ठीक है कि संसार इन्हें निर्बल समझे।

चौथा अध्याय

कौम पर एक नया आरोप

धारा-सभा की जिस बैठक में (दूसरा) एशियाटिक कानून मंजूर किया गया, उसीमें जनरल स्मट्स ने एक और भी मसविदा पेश किया। उसका नाम था, 'इमिग्रएट्स् रिस्ट्रिक्शन एक्ट' अर्थात् नवीन बस्ती का नियमन करने वाला कानून। यह कानून यों तो सब को एकसा ही लागू होता था, पर उसका मुख्य उद्देश तो यही था कि नवीन भारतीयों को वहां आने से रोका जाय। नाताल में भी इसी आशय का एक कानून था। यह उसका अनुकरण मात्र था। पर उसमें एक यह कलम भी थी कि प्रतिबद्ध वस्ती की व्याख्या में उनका भी समावेश हो जाय, जिन पर एशियाटिक कानून अमल करता हो। अर्थात् यह कानून इस युक्ति से बनाया गया था कि अप्रत्यक्ष रूप से उसके अनुसार एक भी नवीन भारतीय वहां प्रवेश न पा सकता था। इसका विरोध करना तो कौम के लिए बडा ही आवश्यक था। पर कौम के सामने अब यह महत्व पूर्ण सवाल खडा हो गया कि इस नवीन बात को भी सत्याग्रह के उद्देशों में शामिल किया जाय या नहीं। निःसन्देह कौम किसी के साथ इस विषय में बँधी हुई नहीं थी कि वह

कब किस विषय में सत्याग्रह करे। उसकी मर्यादा तो उसकी अपनी शक्ति और विवेक ही था। बात बात पर कोई सत्याग्रह करने चले तब तो वह निरा दुराग्रह ही हो जाय। दूसरे, अपनी शक्ति का पूरा ख्याल करने से पहले ही यदि आदमी सत्याग्रह ठान बैठे और यदि पीछे से उसे हारना पड़े, तो वह खुद तो बदनाम होगा ही, पर साथ ही उस महान् शस्त्र को भी बदनाम कर देगा।

कमिटी ने देखा कि कौम ने तो केवल खूनी कानून के विरोध में ही सत्याग्रह शुरू किया है। यदि वह रद हो जावे तब तो नवीन बस्ती से सम्बन्ध रखनेवाले कानून में जो बुराई ऊपर बताई जा चुकी है, वह भी अपने आप ही नष्ट हो सकती है। पर साथ ही एक बात और भी थी। यदि यह समझकर हम चुप चाप रहें कि खूनी कानून ही रद हो जाय, तो बस्ती से सम्बन्ध रखने वाले दूसरे कानून के विषय में पृथक् चर्चा अथवा आन्दोलन करने की कोई आवश्यकता नहीं है, तो उसका यही अर्थ होगा कि भारतीयों की नवीन बस्ती से सम्बन्ध रखनेवाले तमाम प्रतिबन्धों को हमने स्वीकार कर लिया। इसलिए उस कानून का विरोध करना तो ज़रूरी था; पर उसे सत्याग्रह के उद्देश में शामिल किया जाय या नहीं? कौम ने सोचा कि सत्याग्रह के शुरू हो जाने पर उस पर होनेवाले सभी आक्रमणों को सत्याग्रह में शामिल कर लेना उसका धर्म है। हाँ, अपनी ही कमजोरी के कारण हम यदि ऐसा न कर सकें तो बात जुदी है। आखिर नेताओं ने भी यही निर्णय किया कि शक्ति के अभाव, अथवा न्यूनता के बहाने इस जहरीली कलम को हम कभी बरदाश्त नहीं कर सकते। अतः उसे भी हमें सत्याग्रह के उद्देश में शामिल कर लेना चाहिए।

अब स्थानीय सरकार से इस विषय में पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। किन्तु इसका फल कुछ न हुआ। कानून में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हाँ, उलटे कौम को, और सच पूछिए तो मुझे, बदनाम करने के लिए एक नवीन साधन मात्र जनरल स्मट्स के हाथ लग गया। वे जानते थे कि जाहिरा तौर पर जितने गोरे कौम की सहायता कर रहे थे, उनसे कहीं अधिक खानगी तौर से कौम के साथ सहानुभूति रखते थे। अतः उन्होंने स्वभावतः सोचा कि यदि गोरों की इस सहानुभूति को वे नष्ट कर सकें तो कैसा अच्छा हो! यह सोच विचार कर उन्होंने मुझ पर यह आरोप लगाया कि इसने एक और भी नई बात खडी कर दी। बल्कि वे तो इससे भी आगे बढ़ गये। उन्होंने तो अपनी बात चीत तथा लेखों द्वारा हमारे अंगरेज सहायकों से यहाँ तक कहा कि 'गांधी को जितना मैं जानता हूँ, उतना आप लोग नहीं जानते। आप यदि इसे उँगली बतावेंगे तो यह फौरन हाथ ही पकडने की कोशिश करेगा। यह सब मैं जानता हूँ। इसीलिए एशियाटिक एक्ट रद नहीं करता हूँ। जब उसने सत्याग्रह छेडा था, तब नवीन बस्ती वाले कानून का तो कहीं नामो-निशान भी नहीं था। अब ट्रान्सवाल की रक्षा के लिए नवीन भारतीयों को यहां आने से रोकते हैं तो वहां भी यह अपना सत्याग्रह घुसेडना चाहता है। इस चालाकी (Cunning) को हम कहाँ तक बरदाश्त करें? यह जो चाहे सो करे। भले ही सब भारतीय बरबाद हो जायँ। मैं इस कानून को अब रद नहीं करूँगा और न उस नीति को ही छोड़ूँगा, जो स्थानीय सरकार ने भारतीयों के विषय में कायम कर रक्खी है। प्रत्येक गोरे का भी यही कर्तव्य है कि वह इस न्याय्य-विधान का समर्थन करने के लिए तैयार हो जावे।'

किंचित् विचार करने से मालूम होगा कि उपर्युक्त दलील बिलकुल अनुचित और नीति-विरूद्ध थी। जिस समय नवीन वस्तों का प्रतिबंध करने वाले कानून का जन्म ही नहीं हुआ था, तब भला मैं या कौम उसके विरोध में आन्दोलन ही कैसे कर सकते थे? उन्होंने मेरी चालाकी अथवा (Cunning) के अनुभव की बात कह तो डाली, पर वे इसके प्रमाण में एक भी उदाहरण पेश नहीं कर सके थे। मैं खुद भी तो जानता हूँ कि मैं इतने साल दक्षिण आफ्रिका में रहा, पर मुझे स्मरण नहीं होता कि मैंने वहाँ कभी चालाकी से काम लिया हो। बल्कि इस प्रसंग पर तो मुझे और भी आगे बढकर यहाँ तक कहने में भी कोई हिचपिचाहट नहीं मालूम होती कि अपने सारे जीवन में मैंने कभी चालाकी से काम नहीं लिया। मैं इसे नीति-विरुद्ध ही नहीं बल्कि युक्ति-विरुद्ध भी मानता हूँ। इसलिए व्यवहार-बुद्धि से भी मैंने उसका उपयोग करना कभी पसन्द नहीं किया। अपने बचाव के लिए मैं इतना लिखना भी आवश्यक नहीं मानता। जिन पाठकों के लिए मैं यह लिख रहा हूँ, उनके सामने मुझे यह बचाव अपने ही मुँह से करते हुए लज्जा मालूम होती है। यदि उन्हें अब तक मेरे निश्छल और निष्कपट स्वभाव का अनुभव न हुआ हो, तो मैं यह बात अपना बचाव दे कर कभी सिद्ध नहीं कर सकता। उपर्युक वाक्य तो मैंने केवल इस हेतु से लिखे कि पाठकों को इस बात की थोडी बहुत कल्पना हो जाय कि सत्याग्रह के युद्ध में लडते समय कैसे कैसे संकटों का सामना करना पडता था। साथ ही पाठक इस बात को भी समझ लें कि सुनीति के निर्दिष्ट मार्ग से यदि कौम जरा भी विचलित हो जाती तो किस खतरे में वह जा गिरती।

बीस फीट ऊँची लकडी पर लटकाई हुई रस्सी पर चलने वाले मल्लों को कितनी एकाग्रता करनी पडती है ! उनकी नजर जरा भी चूकी कि दोनों तरफ, जिस तरफ वे गिरें उसी तरफ, मौत उनका स्वागत करने के लिए तैयार रहती है। मैंने भी आठ साल के विशाल अनुभव से यही सीखा कि ठीक मल्ल की तरह, बल्कि उससे भी अधिक एकाग्र नजर करके सत्याग्रही को भी संसार में बरतना पडता है। जिन मित्रों के समक्ष जनरल स्मट्स ने अपने अनुभव की बात कही थी, वे मुझे भली भांति जानते थे। इसलिए उन पर जनरल स्मट्स की धारणा के ठीक विपरीत ही प्रभाव पडा। उन्होंने न तो मेरा त्याग किया और न उस युद्ध का ही। इतना ही नहीं, बल्कि अब तो वे और भी अधिक दिलचस्पी के साथ सहायता करने लग गये। कौम को भी आगे चलकर यही अनुभव हुआ कि यदि वस्ती के कानून का हम लोग सत्याग्रह में समावेश न करते तो हमें भारी मुसीबत का सामना करना पडता।

अनुभव मुझे यह शिक्षा देता है कि जिसे मैं 'वृद्धि का नियम' कहता हूँ वह प्रत्येक शुद्ध लडाई में लागू होता है। परन्तु सत्याग्रह के विषय में तो मैं उसे सिद्धान्त रूप से मानता हूँ। गंगाजी ज्यों ज्यों आगे बढती जाती हैं, त्यों त्यों उनमें अनेक नदियाँ मिलती जाती हैं और अन्त में उनके मुख के पास उनका पात्र इतना विशाल हो जाता है कि न तो दाहिनी ओर और न बांई ओर किनारा दीख पडता है। नाव में बैठे हुए मुसाफिर को तो उनके और समुद्र के विस्तार में कोई फर्क नहीं दिखाई देता। वही बात सत्याग्रह के युद्ध के विषय में भी चरितार्थ होती है। वह ज्यों ज्यों आगे बढता जाता है त्यों त्यों

उसमें अनेक वस्तुएँ मिलती चली जाती हैं, और इसलिए उसके परिणाम में भी वृद्धि होती जाती है। सत्याग्रह के इस परिणाम को, उसकी इस विशेषता को, मैं अनिवार्य मानता हूँ। उसका कारण उसका मूल-भूत तत्व ही है। क्योंकि सत्याग्रह में तो कम से कम ही ज्यादह से ज्यादह है। अर्थात् जो कम से कम है, उसमें से और छोड़ा भी क्या जा सकता है? शुद्ध सत्य से कम क्या होगा? इसलिए उसमें मनुष्य पीछे तो हट ही नहीं सकता। स्वाभाविक क्रिया वृद्धि ही है। अन्य लड़ाइयाँ शुद्ध हो सकती हैं, किन्तु उनमें आगे चल कर अपनी माँगें घटाने के लिए अवकाश पहले ही से रक्खा जाता है। इसलिए मैंने इस विषय में यह शँका जाहिर की कि वृद्धि का नियम उनमें निरपवाद रूप से नहीं लग सकता। अब यह समझाना बाकी रहा कि वृद्धि का नियम निरपवाद रूप से ही कैसे लगता है, जहाँ माँग कम से कम है। जिस तरह गंगा नदी वृद्धि को ढूँढने के लिए अपना मार्ग नहीं छोड़ती, ठीक उसी तरह सत्याग्रही भी अपने मार्ग को, जो तलवार की धार के समान है, नहीं छोड़ता। गंगा का प्रवाह ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जाता है, त्यों त्यों अन्य सरितायें उसे अपने आप मिलती जाती हैं, ठीक वही बात सत्याग्रह की गँगा के विषय में भी चरितार्थ होती है। बस्ती का कानून सत्याग्रह में शामिल कर लेने पर, और उसे देख कर सत्याग्रह के सिद्धान्तों को न जानने वाले कितने ही भारतीयों ने यह आग्रह किया कि ट्रान्सवाल के भारतीयों के खिलाफ जितने भी कानून हैं, उन सब को सत्याग्रह में शामिल कर लिया जाय। दूसरे कितने ही लोगों ने यह भी कहा कि जब तक सत्याग्रह शुरू है, तब तक नाताल, केप कालोनी, आरेञ्ज फ्री

स्टेट आदि सब को निमन्त्रित कर, समस्त दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के खिलाफ़ जितने भी कानून हैं, उनमें से प्रत्येक के विरुद्ध सत्याग्रह छेड़ दिया जाय। परन्तु इन दोनों बातों से सिद्धांत का भंग होता। मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि जिस बात को हमने सत्याग्रह शुरू करने से पहले पेश नहीं किया था, उसे अब मौका देख कर खड़ी करना अप्रामाणिकता है। हमारी शक्ति चाहे जितनी क्यों न बढ़ जाय, तथापि जिस बात के लिए हमने सत्याग्रह छेड़ा था, वह सिद्ध होते ही हमें अपने सत्याग्रह को भी समाप्त कर देना चाहिए। अगर हम इस सिद्धान्त पर दृढ़ न रहते तो मेरा पूरा विश्वास है कि जीतने के बदले हमें हारना ही पड़ता। इतना ही नहीं, बल्कि हमने जो विश्वास सम्पादन कर लिया था, उससे भी हमें हाथ धोना पड़ता। इसके विपरीत प्रतिपक्षी सत्याग्रह के बीच ही में यदि नई आपत्तियाँ खड़ी कर दे, तो अवश्य ही उनका समावेश सत्याग्रह में हो जाता है। अपने निश्चित मार्ग पर चलते हुए सत्याग्रही यदि राह में अनायास आने वाली वस्तुओं की अवगणना, करे तो उसे सत्याग्रह को ही छोड़ना पड़े। और प्रतिपक्षी तो सत्याग्रही होता ही नहीं। (क्योंकि सत्याग्रह के विपक्ष में सत्याग्रह एक असम्भवनीय वस्तु है।) इसलिए उसे न्यूनाधिकता का बन्धन ही नहीं होता। यदि वह सत्याग्रही को डराना चाहे तो कोई नवीन वस्तु खड़ी करके ऐसा कर सकता है। पर सत्याग्रही भय को तो पहले ही से त्याग देता है। इसलिए प्रतिपक्षी के नवीन आपत्तियाँ खड़ी करने पर भी सत्याग्रही अपना मंत्रोच्चार उसी तरह शुरू रखता है। और यह श्रद्धा रखता है कि इन तमाम आपत्तियों के सामने

यह मंत्रोच्चार अवश्य ही फलदायी होगा। इसीलिए सत्याग्रह की लड़ाई ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है, अर्थात् प्रतिपक्षी ज्यों ज्यों उसे लम्बाता है, त्यों त्यों सत्याग्रही की दृष्टि से तो प्रतिपक्षी अपनी हानि और सत्याग्रही का फायदा ही करता है। इस लड़ाई के इतिहास में हम इस नियम के कई उदाहरण आगे चल कर देखेंगे।

पांचवां अध्याय

सोराबजी शापुरजी अडाजनिया

नवीन बस्ती वाला कानून भी सत्याग्रह में शामिल कर लिया गया। पर नवीन भारतीयों को दाखल करना आसान नहीं था, यह करना भी सत्याग्रहियों का ही काम था। कमिटी ने यह तो निश्चय कर लिया था कि ऐसे वैसे भारतीय द्वारा यह काम नहीं लेना चाहिए। नवीन बस्ती के कानून में दो प्रतिबंधक शर्तें थीं, जिनके विषय में हमें कोई आपत्ति नहीं थी। अतः हमने किसी ऐसे ही मनुष्य को ट्रान्सवाल में दाखल कर के जेल रूपी महल में भेज देना चाहा, जो उन दोनों शर्तों का पालन कर सकता हो। इसके द्वारा हमें यह साबित करना था कि सत्याग्रह तो मर्यादा-धर्म है। इस कानून में एक यह भी धारा थी कि ट्रान्सवाल में आने वाले नवीन आदमी को यूरोप की किसी भी एक भाषा का ज्ञान होना जरूरी है। इसलिए कमिटी ने किसी ऐसे ही आदमी को ट्रान्सवाल में लाने की सोची, जो अंगरेजी जानता हो पर पहले कभी ट्रान्सवाल में न रहा हो। कितने ही भारतीय उमीदवार खड़े हुए। पर कमिटी ने उनमें से सोराबजी शापुरजी अडाजनिया की विनन्ति को ही बतौर कसौटी (टेस्ट केस) के मान्य किया।

सोराबजी पारसी थे। नाम से ही स्पष्ट है। सारे दक्षिण आफ्रिका में पारसियों की जन-संख्या सौ से ज्यादह नहीं होगी। पारसियों के विषय में दक्षिण आफ्रिका में भी मेरा वही मत था जो मैंने भारतवर्ष में प्रकट किया है। संसार भर में एक लाख से ज्यादह पारसी नहीं होंगे। परन्तु इतनी छोटी सी जाति अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा कर रही है, अपने धर्म पर दृढ़ है, और उदारता में संसार की एक भी जाति उसकी बराबरी नहीं कर सकती। इस जाति की उच्चता के लिए इतना ही प्रमाण काफी होगा। अनुभव से ज्ञात हुआ कि सोराबजी उसमें भी रत्न थे। जब वे लड़ाई में शामिल हुए, तब मैं इनको वैसे ही मामूली तौर पर जानता था। लड़ाई में शामिल होने के लिए उन्होंने पत्र-व्यवहार किया था, और उससे मेरा ख्याल भी अच्छा हो गया था। मैं पारसी लोगों के गुणों का तो पुजारी हूँ, परन्तु एक कौम की हैसियत से उनमें जो खामियां हैं उनसे मैं न तो अपरिचित था और न अब ही हूँ। इसलिए मेरे दिल में यह सन्देह जरूर मौजूद था कि शायद सोराबजी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकेंगे। पर मेरा यह नियम था कि सामने वाला मनुष्य जब इसके विपरीत बात कर रहा हो, तब ऐसे शक पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। इसलिए मैंने कमिटी से यह सिफारिश की कि सोराबजी अपने पत्र में जो दृढता जाहिर कर रहे हैं उस पर हमें विश्वास कर लेना चाहिए। फल यह हुआ कि सोराबजी प्रथम श्रेणी के सत्याग्रही साबित हुए। लम्बी से लम्बी कैद भोगने वाले सत्याग्रहियों में वे भी एक थे। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने तो सत्याग्रह का इतना गहरा अध्ययन कर लिया था कि उसके विषय में वे जो कुछ भी कहते सब को सुनना पडता।

उनकी सलाह में हमेशा दृढता, विवेक, उदारता, शान्ति आदि गुण प्रकट होते। विचार कायम करने में वे जल्दी तो कदापि नहीं करते थे। और एक बार विचार कायम कर लेने पर वे कभी उसे बदलते भी नहीं थे। जितने अंशों में उनमें पारसीपन था, और वह उनमें ठूंस ठूंस कर भरा हुआ था, उतना ही भारतीयपन भी था। संकीर्ण जाति अभिमान जैसी वस्तु तो उनमें किसी दिन भी नहीं पाई गई। लड़ाई खतम होने पर डॉ० मेहता ने अच्छे सत्याग्रहियों में से किसी को इंग्लैण्ड भेज कर बैरिस्टर बनाने के लिए एक छात्र-वृत्ति दी थी। उसके लिए योग्य छात्र चुनने का काम मुझ पर ही रक्खा गया था। दो तीन सुयोग्य भारतीय थे। पर समस्त मित्र-मंडल को दृढता तथा स्थिरता में सोराबजी के मुकाबले में खड़ा होने योग्य कोई नहीं दिखा, इसलिए उन्हींको चुना गया। ऐसे एक भारतीय को इंग्लैण्ड भेजने में मुख्य उद्देश यही था कि वह लौट कर दक्षिण आफ्रिका में मेरे बाद मेरा स्थान ग्रहण कर जाति की सेवा कर सके। कौम का आशीर्वाद और सन्मान लेकर सोराबजी इंग्लैण्ड पहुंचे। बॅरिस्टर हुए। गोखले से तो उनका परिचय दक्षिण आफ्रिका में ही हो चुका था। पर इंग्लेण्ड जाने पर उनका सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गया। सोराबजी ने उनके मन को हर लिया। गोखले ने उन्हें यह आग्रह भी किया कि जब कभी वे भारत में आवें तब 'भारत-सेवक-समाज' के सभ्य जरूर होवें। विद्यार्थीवर्ग में वे बड़े प्रिय हो गये थे। प्रत्येक मनुष्य के दुख में वे भाग लेते। इंग्लैण्ड के न तो आडम्बर की उनपर किंचिन्मात्र छाप पड़ी और न वहां के ऐशो आराम की। वे जब इंग्लैण्ड गये तब उनकी उम्र ३० साल से ऊपर थी। उनका अंगरेजी का अध्ययन ऊंचे दर्जे

का न था व्याकरण वगैरा सब भूल भाल गये थे। पर मनुष्य के दीर्घोद्योग के सामने ये कठिनाइयां कब खडी रह सकी हैं? शुद्ध विद्यार्थी जीवन व्यतीत कर, सोराबजी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते गये। मेरे ज़माने की बरिस्टर की परीक्षा आजकल की परीक्षा की तुलना में कुछ आसान थी। इसलिए आजकल के बॅरिस्टरों को अधिक अभ्यास करना पड़ता है। पर सोराबजी पीछे नहीं हटे। इंग्लैण्ड में जब ऍम्ब्युलन्स कोर की स्थापना हुई, तब उसका आरंभ करने वालों में वे भी थे, और आखिर तक उसमें रहे। इस दल को भी सत्याग्रह करना पड़ा था। उसमें से कई फिसल गये थे पर फिर भी जो अटल रहे, उनमें सोराबजी अग्रगण्य थे। यहां पर मुझे यह भी कह देना चाहिए कि इस दल को सत्याग्रह में भी विजय ही मिली थी।

इंग्लैण्ड में बॅरिस्टर हो कर सोराबजी जोहान्सबर्ग गये। वहां पर उन्होंने सेवा और वकालत दोनों साथ ही साथ शुरू कर दीं। दक्षिण आफ्रिका से मुझे जो पत्र मिले उनमें सोराबजी की तारीफ सभी करते थे। वे अब भी वैसे ही सादा मिजाज हैं, जैसे पहले थे, आडम्बर जरा भी नहीं है। छोटे से बड़े तक सब से हिल मिल कर रहते हैं। पर मालूम होता है, परमात्मा जितना दयालु है उतना ही शायद निठुर भी है। सोराबजी को तीव्र क्षय ने ग्रसा, और कौम का नवीन प्रेम सम्पादन कर उसे दुख में रोती हुई छोड़ कर वे चल बसे। इस तरह परमात्मा ने कौम के दो पुरुष-रत्न छीन लिये—काछलिया और सोराबजी!

पसन्दगी ही करनी हो तो मैं इन दो में से किसे प्रथम-पद दूं? पर मैं तो इस तरह की पसन्दगी ही नहीं कर सकता।

दोनों अपने अपने क्षेत्र में अप्रतिम थे। काछलिया शुद्ध मुसलमान और उतने ही शुद्ध भारतीय भी थे; उसी प्रकार सोराबजी भी शुद्ध पारसी और साथ ही उतने ही शुद्ध भारतीय थे।

यही सोराबजी पहले पहल सरकार को नोटिस देकर केवल 'टेस्ट' अर्थात् कसौटी के लिए ट्रान्सवाल आये। सरकार इसके लिए जरा भी तैयार नहीं थी। इसलिए वह एकाएक यही निश्चय नहीं कर सकी कि सोराबजी को क्या करना चाहिए। सोराबजी तो जाहिरा तौर पर सरहद नाँघ कर ट्रान्सवाल में आ धसके। परवाने जाँचने वाले सरकारी अधिकारी उनको जानते थे। सोराबजी ने कहा "मैं केवल इसी हेतु से ट्रान्सवाल में प्रवेश कर रहा हूँ कि देखूँ सरकार मेरा क्या करती है। यदि आप मेरी अँगरेजी की परीक्षा लेना चाहें तो सवाल कीजिए। और अगर गिरफ्तार करना हो, तो यह खड़ा हूँ, गिरफ्तार कर लीजिए" अधिकारी ने कहा "मुझे यह मालूम है कि आप अँगरेजी जानते हैं। इसलिए परीक्षा तो कुछ लेना लिवाना है नहीं। और न आपको गिरफ्तार करने के लिए मेरे पास कोई हुक्म ही है। इसलिए जहां जाना हो, आप सुख पूर्वक जाइएगा। यदि आपको गिरफ्तार करना आवश्यक मालूम हुआ, तो आप जहाँ कहीं जावेंगे, सरकार स्वयं आपको गिरफ्तार कर लेगी।

इस तरह सोराबजी तो अकल्पित रूप से और अचानक जोहान्सबर्ग तक आ पहुँचे। हम सब ने उनका बड़े हर्ष के साथ स्वागत किया। किसी को यह आशा तक नहीं थी कि सरकार सोराबजी को ट्रान्सवाल के सरहद्दी स्टेशन वाक्सरेस्ट से ज़रा भी आगे बढ़ने देगी। कई बार ऐसा होता है कि जब हम किसी मार्ग पर विचार

पूर्वक और निर्भयता के साथ कदम बढ़ाते चले जाते हैं, तब सरकार उसका विरोध करने के लिये तैयार नहीं होती। प्रत्येक सरकार का प्रायः यही हाल होता है। मामूली आन्दोलनों के समय सरकार का कोई भी अधिकारी अपने विभाग में इतना गहरा मस्तिष्क डाले हुए नहीं रहता कि जिससे वह प्रत्येक विषय में अपने विचार पहले ही से कायम करके रक्खे, और उन पर अमल करने के लिए तैयारियाँ भी कर रक्खे। दूसरे, अधिकारी को अनेक प्रकार के काम होते हैं, जिससे उसका ध्यान बँट जाता है। अलावा इसके, उसे अधिकार का कुछ मद भी तो होता है, जिसके कारण वह ज़रा लापरवाह सा रहता है। वह यह मान लेता है कि हर तरह के आन्दोलन का सामना करके उसे दबा देना सत्ताधीश के बांये हाथ का खेल है। इसके विपरीत आन्दोलन करने वाला यदि अपने ध्येय और उसके साधनों को भली भाँति जानता हो, और साथ ही यदि वह अपनी योजना पर दृढ़ हो, तब तो वह हमेशा पूरी तरह तैयार ही रहता है। क्योंकि उसे तो रात दिन केवल एक ही बात का विचार या चिंता रहती है। इसलिए यदि वह सचाई के साथ उचित मार्ग पर ही कदम रखता चला जाए, तो वह अवश्य ही सरकार से हमेशा आगे रहेगा। संसार की जो कितनी ही हलचलें निष्फल होती हैं, उनका प्रधान कारण सरकार की अपूर्व सत्ता नहीं, बल्कि आन्दोलनकारियों में उपयुक्त गुणों का अभाव ही होता है।

गरज यह कि सरकार की गफलत के कारण कहिए या जान बूझ कर निश्चित की हुई उसकी पहली नीति के अनुसार कहिए सोरावजी जोहान्सबर्ग तक आ पहुँचे। इधर न तो स्थानीय

अमलदार को इस विषय में कुछ ख्याल था कि सोराबजी के जैसे मामले में क्या करना चाहिए, और न ऊपर से ही उसे कोई सूचना मिली थी। सोराबजी के इस तरह एकाएक जोहान्सबर्ग पहुँच जाने से कौम का उत्साह खूब बढ़ गया। कितने ही युवक तो यही समझ गये कि सरकार हार गई। और शीघ्र ही उसे सुलह भी करनी होगी। पर यह स्वप्न अधिक देर तक न टिका। शीघ्र ही उन्हें इस बात को ठीक विपरीत सिद्ध होते हुए देखना पड़ा। बल्कि उन्होंने तो यह भी देख लिया कि सुलह होने से पहले शायद अनेकों युवकों को अपना बलिदान देना होगा।

सोराबजी ने अपने पहुँचते ही आने की खबर वहाँ के पुलिस सुपरिंटेण्डन्ट को देकर लिखा कि 'नवीन बस्ती वाले क़ानून के अनुसार मैं अपने को ट्रान्सवाल में रहने का हक़दार मानता हूं'। इसका कारण बताते हुए उन्होंने अपना अंगरेजी भाषा का ज्ञान लिखाया। यह भी लिखा कि यदि अधिकारी उनकी अंगरेजी की परीक्षा लेना चाहें तो उसके लिए भी उन्होंने अपने को तैयार बताया। इस पत्र का कोई उत्तर न मिला। पर इसके कई दिन बाद उन्हें एक सम्मन्स मिला। मामला अदालत में पेश हुआ। न्यायालय भारतीय प्रेक्षकों से खचाखच भर गया था। मामला शुरू होने से पहले, न्यायालय में आये हुए भारतीयों को वहीं आहते में एकत्र कर उनकी एक तात्कालिक सभा की गई, जिसमें सोरा-बजी ने एक शौर्यशाली भाषण दिया। भाषण के अन्त में उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि "पूरी जीत होने तक जितनी बार जेल में जाना होगा, मैं जाने को तैयार हूं और जितने भी संकट आवेंगे उन सब को झेलने को तैयार हूं"। अब तक इतना समय गुजर

चुका था कि मैं सोराबजी को अच्छी तरह जानने लग गया था। मैंने अपने मन में यह भी समझ लिया था कि अवश्य ही सोराबजी एक शुद्ध रत्न सिद्ध होंगे। मामला शुरू हुआ। मैं वकील की हैसियत से खड़ा हुआ। सम्मन्स में कितने ही दोष थे। उन्हें दिखाकर मैंने सोराबजी पर से सम्मन्स उठा लेने के लिए कोर्ट से अर्ज किया। सरकारी वकील ने अपनी दलीलें पेश कीं। पर अदालत ने मेरी दलीलों को स्वीकार कर सम्मन्स हटा लिया। कौम मारे हर्ष के पागल हो गई। सच पूछा जाय तो उसके इस तरह पागल होने के लिए कारण भी था। दूसरा सम्मन्स निकाल कर फौरन ही सौराबजी पर पुनः काम चलाने की हिम्मत तो सरकार को किस तरह हो सकती थी? और हुआ भी यही। इसलिए सोराबजी सार्वजनिक कामों में लग गये।

पर यह छुटकारा हमेशा के लिए नहीं था। स्थानीय भारतीयों को तो सरकार पकड़ती ही नहीं थी। सरकार ने देखा कि वह ज्यों ज्यों गिरफ्तारियाँ करती जाती है त्यों त्यों कौम का जोश बढ़ता ही जाता है। फिर किसी न किसी मामले में कानून की बारीकी के कारण यदि कोई भारतीय छूट जाता है, तो इससे भी कौम का जोश बढ़ता है। सरकार को जो कुछ भी कानून बनाने थे वह मँजूर कर चुकी थी। यह सत्य है कि बहुत से भारतीयों ने परवाने जला डाले थे, किन्तु परवाने लेकर वे वहाँ रहने का अपना हक़ भी तो सिद्ध कर चुके थे। इसलिए केवल उन्हें जेल भेजने ही के लिए उन पर काम चलाना सरकार को फायदेमन्द नहीं मालूम हुआ। उसने यह भी सोचा कि यदि हम खामोश रहेंगे तो आन्दोलन करने के लिए इन लोगों के पास कोई कारण नहीं

रह जायगा, और आन्दोलन अपने आप शान्त हो जायगा। पर सरकार का यह ख्याल गलत था। कौम ने सरकार की खामोशी का अन्त देखने के लिए एक ऐसा नवीन काम कर डाला जिससे उसे अपनी खामोशी अलग रख कर सोरावजी पर पुनः मामला चलाना पड़ा।

छठां अध्याय

सेठ दाऊद महमद आदि का युद्ध में शामिल होना

जब कौम ने देखा कि सरकार अपनी चुप्पी और खामोशी से कौम को थका देना चाहती है, तब खुद उसी को अपना कदम आगे बढ़ाना पड़ा। सत्याग्रहों में जब तक दुःख सहने की शक्ति होगी तब तक तो वह कभी न थकेगा। सरकार की धारणा को झूठी साबित करने के लिए कौम समर्थ थी।

नाताल में कई ऐसे भारतीय रहते थे, जिन्हें ट्रान्सवाल में रहने के पुराने हक हांसिल थे। व्यापार के लिए उन्हें ट्रान्सवाल आने की आवश्यकता नहीं थी। कौम यह मानती थी कि उन्हें ट्रान्सवाल आने का जरूर हक है। फिर इन लोगों को तो थोड़ा बहुत अंगरेजी का भी ज्ञान था। इसके अतिरिक्त सोराबजी के जैसे सुशिक्षित भारतीयों को शामिल करने में सत्याग्रह के किसी नियम का भंग भी तो नहीं हो रहा था। इसलिए दो प्रकार के भारतीयों को शामिल करना तय किया गया। एक तो वे, जो कि पहले ट्रान्सवाल में रह चुके थे, और दूसरे वे, जिन्होंने अंगरेजी शिक्षा प्राप्त की थी, अथवा जिन्हें 'शिक्षित' कहा जा सकता था।

इन में सेठ दाऊद महमद, और पारसी रुस्तमजी दो बड़े

व्यापारियों में से थे। और सुरेन्द्रनाथ मेड, प्रागजी खंडु भाई देशाई, हरिलाल गांधी, रतनशी सोढा आदि शिक्षितों में से थे।

पहले सेठ दाऊद महमद का परिचय सुना दूं। ये नाताल इण्डियन कांग्रेस के अध्यक्ष और दक्षिण आफ्रिका में आये हुए व्यापारियों में सब से पुराने थे। वे सूरती सुन्नी जमात के बोहरा थे। बड़े ही चतुर पुरुष। इस बात में उनकी बराबरी करने वाले बहुत ही थोडे भारतीय मैंने दक्षिण आफ्रिका में देखे। उनकी ग्राहक शक्ति बडी तेज थी। अक्षर-ज्ञान तो मामूली सा था पर अनुभव से वे अंगरेजी और डच भी अच्छी तरह बोल सकते थे। अंगरेजी व्यापारियों के साथ अपना काम चलाने में उन्हें जरा भी कठिनाई नहीं पड़ती थी। उनकी दानशीलता प्रसिद्ध थी। नित्य पचास मिहमान से कम तो कभी उनके यहाँ होते ही नहीं थे। कौमी चंदों में उनका नाम अग्रसरों में ही रहता। उनके एक लड़का था। लड़का क्या था, एक अमूल्य रत्न था। चारित्र्य में उन से भी श्रेष्ठ, और हृदय स्फटिक के समान। उसके चारित्र्य-वेग को दाऊद सेठ ने कभी नहीं रोका। दाऊद सेठ अपने लड़के की पूजा करते थे! यह अत्युक्ति नहीं, यथार्थ सत्य है। वे चाहते थे, कि उनकी एक भी ऐब हसन को नहीं लगने पावे। इंग्लैण्ड भेजकर उन्होंने उसे बढ़िया शिक्षा दी। पर दुर्भाग्य से दाऊद सेठ उस लड़के से भर जवानी में हाथ धो बैठे। हसन को क्षय ने घेरा, और उसका प्राण हरण कर लिया। वह घाव कभी नहीं भरा। हसन के साथ साथ भारतीय जनता की बड़ी बड़ी आशायें मिट्टी में मिलगईं। हसन के लिए तो हिंदू और मुसलमान दोनों अपनी दाहिनी बाईं आंखों के समान थे। उसका सत्य तेजस्वी था। आज दाऊद

सेठ भी नहीं रहे ! उस काल ने कहीं किसी को छोड़ा है !

पारसी रुस्तमजी का परिचय मैं पहले ही दे चुका हूँ।

शिक्षितों में से पाठक अनेकों को जानते हैं। इन पृष्ठों को लिखते समय मेरे पास कोई सामग्री नहीं है। इसलिए शायद कई नाम छूट गये होंगे। आशा है, वे सब भाई मुझे क्षमा करेंगे। ये प्रकरण नामों को अमर करने के लिए नहीं, बल्कि सत्याग्रह का रहस्य समझाने के लिए लिखे जा रहे हैं। इनके द्वारा मैं यह भी बताना चाहता हूँ कि विजय कैसे प्राप्त हुई, उसमें कैसे कैसे विघ्न आते हैं, और उन्हें किस तरह दूर किया जा सकता है, जहाँ कहीं नामों का अथवा नामधारियों का परिचय दिया गया है वहाँ भी मेरा हेतु केवल यही है, कि आप यह जान जाएँ कि दक्षिण आफ्रिका में निरक्षर गिने जाने योग्य लोगोंने भी कैसे कैसे पराक्रम किये हैं; वहाँ भी हिंदू, मुसलमान, पारसी ईसाई आदि सबने किस तरह हिल-मिल कर काम किया और किस तरह व्यापारी, सुशिक्षित आदि सबने अपनें अपने कर्तव्य का पालन किया। जहाँ कहीं गुणी जनों का परिचय दिया गया है, वहाँ उनकी नहीं बल्कि केवल उन गुणों ही की स्तुति की गई है।

तो इस तरह जब दाऊद सेठ अपने सत्याग्रहियों की फौज को लेकर ट्रांसवाल की सरहद पर जा डटे तब सरकार भी गाफिल नहीं थी। इतने बड़े दल को यदि वह ट्रांसवाल में प्रवेश करने देती तब तो उसकी बड़ी बदनामी होती। इसलिए उन्हें वह कैसे छोड़ सकती थी ? सभी पकड़े गये। मामला चला, और वॉक्सरेस्ट की सरहदी जेल में वे रख दिये गये। कौम का जोश और भी बढ़ा। नाताल से हमारी सहायता के लिए आये हुए अपने भाइयों को

यदि हम किसी तरह छुड़ा न सकें, तो कमसे कम ट्रांसवाल के भारतीयों को उनका साथ तो देना चाहिए न ? यह सोचकर ट्रांसवाल के भारतीय भी जेल का मार्ग ढूँढने लगे।

गिरफ्तार होने के तो अनेकों मार्ग थे। यदि कोई निवासी अपना परवाना नहीं बताता तो उसे व्यापार का परवाना नहीं मिल सकता था; और बिना व्यापारी परवाने के व्यापार करना जुर्म था। नाताल से ट्रांसवाल में आते समय भी परवाने दिखाने पड़ते, नहीं तो गिरफ्तारी होती। पर परवानों की तो होली जला दीगई थी न ? इसलिए रास्ता साफ था। दोनों मार्गों का अवलम्बन किया गया। कई बिना परवाना लिये ही फेरी करने लगे, और कई लोग ट्रांसवाल में प्रवेश करते समय परवाने न दिखाने के कारण गिरफ्तार होने लगे।

अब ज़रा युद्ध का रंग जमा, सब की परीक्षा का समय आया, नाताल से और लोग भी आये। जोहांसबर्ग में भी गिरफ्तारियाँ शुरू हो गईं। अब तो यह स्थिति हो गई कि जो चाहता वही गिरफ्तार हो सकता था। जेलें भरने लग गईं।

भला अब कहीं सोराबजी बाहर रह सकते थे ? वे भी पकड़े गये। नाताल से आये हुए सब भारतीयों को छः छः महीने की जेल मिली, और ट्रांसवाल वालों को चार दिन से लगा कर तीन महीने तक की।

इस तरह गिफ्तार किये गिये लोगों में हमारे इमाम साहब भी थे। उनकी कैद का आरम्भ चार दिन से हुआ था। वे फेरी में पकड़े गये। उनका शरीर ऐसा नाजुक था, कि लोग उन्हें जेल जाते हुए देख कर हँसते थे। कई लोग आकर मुझ से कहते

"भाई, इमाम साहब को इसमें शामिल न करो तो अच्छा हो। वे कौम को लज्जित करेंगे"। मैंने इस चेतावनी पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। इमाम साहब की शक्ति की नाप-जोख करने वाला मैं कौन होता हूँ? यह सब सत्य है कि इमाम साहब कभी नंगे पैर नहीं चलते थे, शौकिया थे उनकी स्त्री मलाई महिला थी। घर बड़ा सजा हुआ रखते, और बिना घोड़ा-गाड़ी लिये कहीं न जाते। पर उनके दिल को कौन जानता था? यही इमाम साहब चार दिन की सजा भुगत कर फिर जेल में गये। वहां एक आदर्श कैदी की तरह रहे। पसीने की कमाई खाते और उन्हीं नित्य नये पक्वान्न खाने की आदत रखने वाले इमाम साहब ने मक्का के आटे की राब पी कर खुदा के एहसान मनाये। वे हारे तो ज़रा भी नहीं। हाँ, उन्होंने सादगी जरूर अख्तियार कर ली। कैदी बन कर पत्थर फोड़े, झाड़ू-बुहारा किया, और अन्य कैदियों की बराबरी में एक क़तार में खड़े रहे, अंत में फिनिक्स में पानी भरा और छापा खाने में कम्पोज़िंग तक किया। फिनिक्स आश्रम में रहनेवालों के लिए कम्पोजिंग सीख लेना अनिवार्य कर्तव्य था। उसे इमाम साहब ने पूरा किया। आजकल भारतवर्ष में भी वे अपना हिस्सा दे रहे हैं।

पर ऐसे तो कई लोग जेल में शुद्ध हो गये!

जोसेफ रायपेन बॅरिस्टर, केम्ब्रिज के ग्रॅज्यूएट थे। नाताल के गिरमिटिया माता-पिता से जन्म ग्रहण करने पर भी 'साहब लोग' बन गये थे। वे तो घर में भी बिना बूट के नहीं चल सकते थे। इमाम साहब को त वज़ु करते वक्त पाँव धोना पड़ते और खुले पैर से नमाज़ पढ़ना पड़ती है। बेचारे रॉयपेन को तो इतना भी नहीं करना पड़ता। पर रे उन्होंने बॅरिस्टरी को छोड़ दिया, बगल में

साग तरकारी की टोकरी लटकाई और फेरी करते हुए गिरफ्तार हुए। उन्होंने भी जेल भुगती। एक दिन रॉयपन ने मुझ से पूछा—"क्या मैं सफर भी तीसरे दर्जे में ही करूँ?"

मैंने उत्तर दिया "यदि आप पहले और दूसरे दर्जे में सफर करेंगे तो तीसरे दर्जे में और मुझे किससे सफ़र कराना चाहिए? जेल में आपको बॅरिस्टर कौन कहेगा?

जोसेफ रॉयपन के लिए यह उत्तर काफी था।। वे भी जेल में सिधारे।

सोलह सोलह वर्ष के तो कितने ही नौजवान जेलों में गये थे।

सत्ताधिकारियों ने जेल में किसी कैदी को दुःख देने में कोई कोर कसर नहीं की। पाखाने तक साफ़ करवाए। और भारतीयों ने हँसते हँसते कर डाले; पत्थर, फुड़वाये, और अल्लाह या राम का नाम ले लेकर उन्होंने फोड़े; तलाव खुदवाये, पथरीली जमीनें खुदवाईं! हाथों में फोड़े हो गये, असह्य दुःख से कई मूर्च्छित भी हो गये, पर हारे नहीं।

कोई यह भी न समझे कि जेल के अन्दर आपस में लड़ाई-झगड़ा और ईर्ष्या-द्वेष नहीं होता था। सबसे ज्यादह झगड़ा तो खाने पर होता था। पर हम उसे भी पार कर गये।

मैं भी दूसरी बार पकड़ा गया। एक समय वॉक्सरेस्ट की जेल में हम लगभग ७५ भारतीय कैदी इकट्ठे हो गये। खाना पकाने का काम हम ने अपने हाथों में ले लिया। लड़ाई-झगड़ों का निवारण मुझे ही करना पड़ता। इसलिए मैं खुद रसोइया बन गया। पर मेरे हाथ की कच्ची-पक्की रोटी और बिना गुड़-शक्कर की राब मेरे सभी साथी प्रेम-पूर्वक खा लिया करते।

सरकार ने सोचा कि यदि इसे अलग कर दें तो यह (मैं) भी जरा दीन हो जाय और इसके (मेरे) साथी भी हार जावें।' पर उसे यह देखने का सुन्दर अवसर नहीं मिला।

मुझे प्रिटोरिया ले गये। बदमाश कैदियों के लिए जो एकान्त कमरे होते हैं, उनमें मुझे वहाँ रक्खा गया। केवल व्यायाम के लिए दिन में दो वार बाहर निकालते थे। वॉक्सरेस्ट में घी दिया जाता था। यहाँ तो वह भी नदारत। जेल के इन गौण दुःखों का वर्णन मैं यहाँ नहीं करना चाहता। जिज्ञासु पाठक दक्षिण आफ्रिका के मेरे जेल के अनुभव पढ़ लें।

इतने पर भी भारतीय हारे नहीं। सरकार असमंजस में पड़ी। जेल में कितने भारतीयों को रक्खा जाय? इससे तो उलटा खर्चा बढ़ गया! अब क्या करें!

सातवां अध्याय

देश-निकाला

खूनी कानून के भंग के अपराध पर तीन प्रकार की सजाएँ रक्खी गई थीं। जेल, जुर्माना और देश निकाला। तीनों सजायें एक साथ देने का अधिकार अदालत को था। छोटे छोटे मजिस्ट्रेटों तक को यह अधिकार दे दिया गया था। पहले पहल तो देश निकाले के मानी ये थे कि अपराधी को ट्रान्सवाल की हद से बाहर अर्थात् नाताल, फ्री स्टेट अथवा डेलागोआ बे की हद में ले जा कर छोड़ दिया जाय। उदाहरणार्थ नाताल की तरफ से आये हुए अपराधियों को वॉक्सरेस्ट स्टेशन की हद के बाहर ले जा कर छोड़ दिया जाता था। इस तरह देश निकाला करने से अपराधी को सिवा असुविधा के और किसी प्रकार की हानि नहीं होती थी। यह तो केवल खिलवाड था। इससे तो भारतीयों में और भी अधिक जोश बढ़ता था।

इसलिए स्थानीय सरकार को भारतीयों को सताने के लिए एक नवीन युक्ति ढूँढनी पड़ी। जेल में तो अब जगह थी ही नहीं। सरकार ने सोचा कि यदि भारतीयों को ठेठ भारत में ही छोड़ दिया जायगा तो वे जरूर निराश होकर शरण आवेंगे। और यह कुछ

कुछ सत्य भी था। इस तरह एक भारी 'जत्थे' को सरकार ने भारतवर्ष भेजा। उसे बहुत कष्ट उठाना पड़ा। खाने-पीने की भी बड़ी असुविधा रही। जो सरकार के दिल में आता वही खाने को मिलता। सब को डेक में ही भेजा जाता। फिर इस तरह देश-पार होने वाले की जमीन जायदाद होती उसका अपना एक पेशा भी होता; उसके आश्रित भी होते थे। कितने ही लोगों के सिर पर तो कर्ज़ था। इतने सब का त्याग करने की क्षमता और शक्ति होने पर भी अनेक लोग यह सब गंवाकर बरबाद होने के लिए तैयार नहीं होते थे।

तथापि बहुत से भारतीय तो पूरी तरह मज़बूत रहे। कई फिसल गये। ऐसे लोगों ने अब जान बूझ कर कैद होना छोड़ दिया। उनमें से अधिकाँश ने इतनी कमजोरी तो नहीं दिखाई कि जले जलाये परवानों के बदले फिर से नये परवाने ले लें। पर कुछेक ने डर कर यह भी कर डाला।

पर फिर भी जो दृढ़ थे उनकी संख्या ऐसी तुच्छ भी नहीं थी। उनकी बहादुरी असीम थी। मेरा ख्याल है, कि उनमें कितने ही तो ऐसे थे, जो हँसते हँसते फाँसी पर भी लटक सकते थे। माल-जायदाद की तो उन्हें परवा ही क्या थी? पर जिन्हें भारतवर्ष भेज दिया गया था, उनमें से अधिकांश तो गरीब और भीरू भी थे। केवल दूसरों के विश्वास पर ही वे लड़ाई में सम्मिलित हुए थे। उन पर इस तरह जुल्म होता देख कर बरदाश्त करते रहना कठिन था। पर उस समय यही समझ में नहीं आता था, कि उनकी सहायता किस तरह करें। पैसा तो उतना ही—थोड़ा सा था। और इस तरह की लड़ाई में रुपये-पैसे की सहायता देने

लगें तो निश्चय ही हार होती है। क्योंकि उसमें लालची लोग फौरन शामिल हो जाते हैं। इसलिए धन की लालच दे कर तो एक भी आदमी को नहीं रक्खा जा सकता था। इस समय तो केवल यही धर्म था कि हम एक दूसरे के प्रति हमदर्दी दिखावें।

अनुभव से मैंने यह देख लिया है कि हमदर्दी, मीठे शब्द और मीठी नजर वह काम कर देती है, जो रुपये-पैसे से नहीं होता। धन के लालची को भी अगर मीठी वाणी न मिले तो वह भी आखिर छोड़ कर चल देगा। इसके विपरीत प्रेम की मुलायम रस्सी से बँधे हुए मनुष्य अनेकानेक सँकट सहने के लिए भी तैयार हो जाते हैं।

इसलिए इन देश निकाले की सजा पाये हुए भाइयों के विषय में यही तय हुआ कि उनके लिए वह सब किया जाय जो सहानुभूति और हमदर्दी कर सकती है। उनको आश्वासन दिया गया कि उनकी सहायता के लिए भारत में यथा-शक्ति व्यवस्था की जायगी। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि इन में से अधिकाँश तो गिरमिट मुक्त ही थे। भारत में कोई रिश्तेदार वगैरा उन्हें नहीं मिल सकते थे। कितनों ही का तो जन्म ही आफ्रिका का था। सब को भारतवर्ष विदेश के समान मालूम होता था। इस तरह के निराधार मनुष्यों को भारत के किनारे पर उतार कर; उन्हें यहाँ वहाँ भटकने के लिए छोड़ देना तो जघन्य दुष्टता होती। इसलिए उनको यह विश्वास दिलाया गया कि भारत में उनके लिए पूरी व्यवस्था कर दी जायगी।

यह सब कर देने पर भी उन्हें तब तक शांति कैसे मिल सकती थी, जब तक कि कोई खास मददगार उनके साथ न कर

दिया जाय ? देश निकाले की सजा पाने वालों का यह पहला ही दल था। स्टीमर छूटने को कुछ ही घंटों की देर थी। पसँदगी करने के लिए समय नहीं था। साथियों में से भाई पी० के० नायडू पर मेरी नजर गई। मैंने पूछा

"इन गरीब भाइयों को भारत छोड़ने के लिए आप जा सकते हैं"

बड़ी प्रसन्नता के साथ।

"पर स्टीमर तो अभी खुलने ही को है"।

"तो मुझे कौन देरी है ?"

"पर आपके कपड़े वगैरा और खर्चा ?"

"कपड़े तो शरीर पर हैं ही, रही खर्चे की बात। सो तो स्टीमर ही में मिल जायगा।"

मेरे हर्ष और आश्चर्य की सीमा न रही। पारसी रुस्तमजी के मकान पर यह बात चीत हुई थी। वहीं से उनके लिए कुछ कपड़े, कम्बल वगैरा माँग-सूँग कर उन्हें रवाना कर दिया।

"देखिए भाई, राह में इन भाइयों को अच्छी तरह सम्भाल कर ले जाइए। इनको सुला कर फिर आप सोइए। और खिलाकर खाइए। मदरास के मि० नटेशन के नाम मैं तार भेज देता हूँ। वे जैसा कहें वही कीजिए।"

"एक सच्चा सिपाही बनने की मैं कोशिश करूँगा।" यह कह कर वे निकल पड़े। मुझे निश्चय हो गया कि जहाँ ऐसे ऐसे वीर पुरुष है, वहाँ कभी हार हो ही नहीं सकती। भाई नायडू का जन्म दक्षिण आफ्रिका में ही हुआ था। उन्होंने कभी भारत-वर्ष का दर्शन तक नहीं किया था। मि० नटेशन के नाम मैंने एक

परियच-पत्र भी उन्हें दे दिया था और उसी समय एक तार भी उनके नाम भेज दिया।

यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि इस समय प्रवासी भारत-वासियों के दुःखों पर विचार करने वाले, उनकी सहायता करने वाले; उनके विषय में उचित रीति से और ज्ञानपूर्वक लिखने वाले सारे भारतवर्ष में अकेले नटेशन ही थे। मेरे और उनके बीच बराबर नियम से पत्र-व्यवहार चल रहा था। जब ये देश निकाले की सजा पाये हुए भाई मदरास पहुँचे तब मि० नटेशन ने उनकी हर तरह से सेवा-सहायता की। भाई नायडू जैसे समझदार आदमी उनके साथ में थे। इसलिए मि० नटेशन को भी काफ़ी सहायता मिली। स्थानीय चँदा एकत्र कर मि० नटेशन ने उनकी इस कदर सेवा की कि उन्हें यह याद तक नहीं होने पाया कि वे घर-बार छोड़ कर देश निकाले की सजा में आये थे।

दक्षिण आफ्रिका की स्थानीय सरकार का यह काम जितना ही निर्दयता पूर्ण था उतना ही गैर कानूनन भी था। वह भी इस बात को जानती थी। सामान्यतया लोगों को इस बात का ख़याल नहीं रहता कि सरकार कई बार हेतु-पूर्वक अपने कानूनों का भंग आप ही करती रहती है। कठिनाई के समय नवीन कानून बनाने के लिए समय नहीं रहता। इसलिए कानून को तोड़ कर भी वह अपना काम बना लिया करती है। बाद में फिर या तो नवीन कानून बना लिया जाता है, या कोई ऐसा कार्य सरकार कर डालती है, जिससे प्रजा इस बात को भूल जाय कि उसने कभी अपने कानून का भंग भी किया था या नहीं।

सरकार के इस कानून पर भारतीयों ने खूब हल चल मचा

दी। भारत में भी शोर मच गया। स्थानीय सरकार के लिए अब इस तरह गरीब भारतीयों को देश-निकाले की सजा देना टेढी खीर ही गई। भारतीयों ने उचित कानूनन उपायों का अवलम्बन भी किया। अपीलें भेजीं, उसमें भी सफलता प्राप्त हुई, और अंत में देश निकाले की सजा वालों को भारत में भेजने की प्रथा तो कतई बँद हो गई।

पर इसके असर से सत्याग्रही फौज नहीं बच सकी। अब तो खास खास योद्धा ही रह गये। "कहीं भारत में न भेज दिये जावें"। इस भय का त्याग सब नहीं कर सके।

कौम का उत्साह तोड़ने के लिए सरकार ने ऊपर बताया गया केवल एक ही उपाय नहीं किया था। पिछले प्रकरण में मैं लिख चुका हूँ कि सत्याग्रही कैदियों को दुःख देने में सरकार ने कोई बात उठा न रक्खी। पत्थर फोड़ने तक का काम उनसे लिया गया था। पर वह तो इससे भी आगे बढ़ गई। पहले पहल सभी कैदियों को एक जगह रक्खा जाता था। अब उन्हें अलग अलग रखने की नीति को उसने अख्तियार किया; और प्रत्येक जेल में कैदियों को खूब सताना शुरू किया। ट्रान्सवाल का जाड़ा बड़ा सख्त होता है। जाड़ा इतना भयंकर पड़ता था कि सुबह काम करते करते हाथ पैर ठिठुर जाते थे। ऐसी स्थिति में कितने ही कैदियों को एक छोटीसी जेल में रक्खा गया, जहाँ उन्हें कोई मिलने भी न पाए। इस दल में नागापन नामक एक नौजवान सत्याग्रही था। उसने जेल के नियमों का पालन किया। उसे जितना काम दिया गया, सभी कर डाला। सुबह, पौ फटते ही, सड़कों पर मिट्टी डालने को वह जाता। नतीजा यह हुआ कि उसे

फेंफड़े का सख्त रोग हो गया और अन्त में उसने अपने प्यारे प्राण अर्पित कर दिये। नागापन के साथी कहते हैं कि अन्त समय तक उसे लड़ाई ही की धुन थी। जेल जाने से उसे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। देश-कार्य करते करते आई हुई मृत्यु का उसने एक मित्र की तरह स्वागत किया। हमारे नाप से नापा जाय तो नागापन को निरक्षर ही कहना पड़ेगा। अंगरेजी, झुलु आदि भाषायें वह अपने अभ्यास के कारण बोल सकता था, कुछ कुछ अंगरेजी लिख भी सकता था। पर विद्वानों की पंक्ति में तो उसे कदापि नहीं रक्खा जा सकता था। फिर भी नागापन का धीरज उसकी शांति, देश भक्ति, और मौत की घड़ी तक बताई हुई उसकी दृढ़ता पर विचार किया जाय, तो कहना होगा कि उसमें किसी ऐसी बात की न्यूनता न थी कि जिसकी हमें उससे आशा करनी चाहिए? हमें बहुत बड़े बड़े विद्वान् नहीं मिले पर फिर भी ट्रान्स-वाल का युद्ध रुका नहीं। यदि नागपन जैसे शूर सिपाही हमें नहीं मिलते तो क्या वह युद्ध चल सकता था?

जिस प्रकार नागापन की मृत्यु जेल के दुःखों के कारण हुई, उसी प्रकार नारायण स्वामी की मृत्यु देश निकाले के कारण हुई। देश निकाल के कष्ट उसके लिए मृत्यु-रूप साबित हुए, पर इन घटनाओं के कारण कौम हारी नहीं। हाँ, कमजोर आदमी जरूर जाकर अलग खड़े होगये। पर वे भी तो यथा शक्ति अपना हिस्सा अदा कर ही चुके थे। उन्हें कमजोर कहकर हमें उनकी अवगणना कदापि नहीं करनी चाहिए। समाज में यह एक चाल सी पड़ गई है कि आगे बढ़ने वाले अक्सर पीछे रहने वालों का तिरस्कार करते हैं। और अपने को बहुत भारी समझ लेते हैं। पर कई बार बात तो यथार्थ

में ठीक इसके विपरीत होती है। जो पचास देने की शक्ति रखता है वह पचीस दे कर यदि बैठ जाय, और पांच देने की शक्ति रखने वाला पूरे पांच दे दे तो हम यही कहेंगे कि पांच वाले ने ज्यादह दिये। तथापि कई वार वह पचीस देने वाला पांच देने वाले के सामने फूलता है। पर हम जानते हैं कि इस तरह फूलने के लिए उसके पास कोई कारण ही नहीं है। उसी प्रकार अपनी कमजोरी के कारण आगे न बढ़-सकने वाला यदि अपनी शक्ति का उपयोग कर चुका हो, और दिल चोर कर काम करने वाला भले ही मामूली नाप को देखते हुए अधिक शक्ति का उपयोग भी करता रहे तो भी हमें तो यही कहना पड़ेगा कि वह पहला आदमी ही अधिक योग्य है। इसलिए देश सेवा तो उन्होंने भी की है जो युद्ध के भीषण रूप धारण करते ही अलग जा खड़े हो गये। अब ऐसा समय आ गया था कि जब अधिक हिम्मत और सहन शक्ति की आवश्यकता उपस्थित हो गई। पर इसमें भी ट्रान्सवाल के भारतीय पीछे न हटे। युद्ध शुरू रखने के लिए जितने योद्धाओं की आवश्यकता थी, उतने तो जरूर ही बच रहे थे।

पर इस तरह दिन ब दिन ज्यादह से ज्यादह मुश्किल कसौटी पर भारतीय कसे जाने लगे। ज्यों ज्यों भारतीय ज्यादह ज्यादह बल दिखाते गये त्यों त्यों सरकार भी अधिक अधिक बल का प्रयोग करती गई। बदमाश कैदियों के लिए और खास कर उन कैदियों के लिए जिन्हें सरकार 'सीधा' करना चाहती है जुदे कैदखाने होते हैं। ट्रान्सवाल में भी ऐसे कैदखाने थे। जिनमें से एक का नाम 'डायकलुफ' था। वहाँ का दारोगा भी बड़ा जालिम, और मजदूरी भी वैसी ही सख्त। पर सरकार को भी ऐसे कैदी मिल गये जो उन दोनों से बढ़ गये। वे मजदूरी करने को तो तैयार थे, पर

अपमान नहीं सह सकते थे। दारोगा ने उनका अपमान किया, उत्तर में उन्होंने उपास शुरू कर दिये। शर्त यह थी, कि जब तक हमें या इस दारोगे को यहाँ से हटाया न जायगा हम अन्न को नहीं छूवेंगे। ये उपास शुद्ध थे। उपास करने वाले ऐसे नहीं थे, जो चुरा कर कुछ खा लें। पाठकों को यह भी जान लेना चाहिए कि इस तरह के मामलों में यहाँ (भारत में) जिस तरह चर्चा और आन्दोलन हो सकता है, उतना ट्रांसवाल में नहीं हो सकता था। फिर वहाँ के तो नियम भी बड़े सख्त थे। ऐसे समय भी कैदियों से मिलने जुलने की सख्त मुमानियत थी। सत्याग्रही यदि कैदखाने में जाता तो उसे अपने आप को खुद ही सँभालना पड़ता। युद्ध गरीबों का था और गरीबी पूर्वक चलाया भी जा रहा था। इस लिए ऐसी प्रतिज्ञाओं में खतरे भी बहुत थे। तथापि सत्याग्रही दृढ़ रहे। उस समय का उनका वह कार्य आज की बनिस्वत अधिक स्तुति के पात्र है। क्योंकि उस समय आजकल की भांति ऐसे उपासों का रिवाज नहीं पड़ा था। पर फिर भी वे सत्याग्रही अटल रहे, और अंत में उन्होंने विजय प्राप्त की। सात दिन के उपासों के बाद उन्हें दूसरी जेल में रखने का हुक्म आ गया।

आठवां अध्याय

फिर डेप्यूटेशन

इस तरह सत्याग्रहियों को जेलों में और देश के बाहर भेजा जा रहा था। पर इसमें भी बीच बीच में ज्वार भाटा तो आता ही रहता था। दोनों पक्ष कुछ कुछ ढीले भी हो गये थे। सरकार ने देखा कि जेलें भर देने से कट्टर सत्याग्रही नहीं झुकेंगे, और देश निकाले से खुद उसकी बदनामी होती थी। यदि कोई मामला अदालत में जाता तो उसे हारना भी पड़ता था। इधर कौम भी सरकार का जल्दी जल्दी मुकाबला करने के लिए तैयार नहीं थी, न उतनी तादाद में उसके पास सत्याग्रही बचे थे। कुछ कायर बन गये, कई बिलकुल हार गये थे और कट्टर सत्याग्रहियों को मूर्ख बना रहे थे। और जो "मूर्ख" थे वे तो अपने को चतुर समझ कर परमात्मा तथा लड़ाई और अपने साधनों की सत्यता पर संपूर्ण विश्वास रक्खे हुए बैठे थे। वे मानते थे कि अंत में तो सत्य ही की विजय होगी।

दक्षिण आफ्रिका की राज्य-व्यवस्था तो एक क्षण भी रुकती नहीं थी। बोअर और अंगरेज दक्षिण आफ्रिका की तमाम रियासतों को एकत्र कर अधिक स्वतंत्रता चाहते थे। जनरल हर्टझॉग

एकदम ब्रिटिशों से सम्बन्ध तोड़ देना चाहते थे। दूसरे कितने ही लोग भी केवल नाम मात्र को ब्रिटिशों से सम्बधं रखना पसंद करते थे। भला अंगरेज तो इस बात को कब सह सकते थे कि वे दक्षिण आफ्रिका से बिलकुल ही सम्बन्ध तोड़ दें ? बात यह थी कि जो कुछ मिलना जुलना था ब्रिटिश पार्लियामेंट के द्वारा ही मिल सकता था। इसलिए बोअर और ब्रिटिशों ने यह तय किया कि दक्षिण आफ्रिका की ओर से एक डेप्यूटेशन इंग्लैण्ड को जावे और दक्षिण आफ्रिका का केस ब्रिटिश मंत्रि-मंडल के सामने पेश करे।

भारतवासियों ने देखा कि यदि दक्षिण आफ्रिका की सारी रियासतें एक हो गईं, अर्थात् वहाँ युनियन हो गई, तो उनकी स्थिति इससे भी अधिक खराब हो जायगी। सभी रियासतें भारतीयों को अधिकाधिक दबाना ही चाहती थीं। इसलिए यह तो स्पष्ट ही था, कि यदि वे सब एक हो जातीं तो अवश्य ही भारतीयों को ज्यादह दबाने की कोशिश करतीं। यद्यपि इन सब के विपक्ष में भारतीयों का अपनी आवाज उठाना निःसन्देह नक्कारखाने में तूती की आवाज वाली मसल ही थी। तथापि उन्होंने यह सोचकर अपना भी एक डेप्यूटेशन इंग्लैण्ड भेजने का निश्चय किया कि अपनी तरफ से कोई बात उठा नहीं रखनी चाहिए। इस बार डेप्यूटेशन में मेरे साथ पोरबन्दर के मेमन सेठ हाजी हबीब को भेजा गया। ट्रान्सवाल में इनका बहुत समय से व्यापार चला आ रहा था। अनुभव भी विशाल था। अंगरेजी शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। किन्तु अंगरेजी, डच, झुळू आदि भाषायें आसानी से समझ लेते थे। वे सत्याग्रहियों से सहानुभूति तो रखते थे, पर स्वयं सत्याग्रही नहीं थे। हम दोनों भाई केपटाऊन से जिस

जहाज में बैठे उसीमें दक्षिण आफ्रिका के बिख्यात बुजुर्ग मेरीमेन भी थे। वे युनियन होने के पक्ष में प्रयत्न करने जा रहे थे। जनरल स्मट्स वगैरा तो पहले ही से जा पहुंचे थे। नाताल की तरफ से भी एक जुदा डेप्यूटेशन इस समय इंग्लैण्ड को गया था, पर यह सत्याग्रह से कोई सम्बन्ध नहीं रखता था। नाताल में उनकी जो खास कठिनाइयां थीं उनसे वह सम्बन्ध रखता था।

इस समय लॉर्ड क्रू इन रियासतों के मंत्री थे। और लॉर्ड मोर्ले भारत-सचिव थे। खूब चर्चा हुई और अनेकों लोगों से हम मिले जुले। न तो ऐसे एक भी अध्यक्ष को हमने बाकी रक्खा था और न साधारण या उमरावों की सभा के किसी ऐसे सभ्य को हमने छोड़ा था, जिसे हम मिल सकते थे। लॉर्ड ऐंम्प्टहिल ने हमारी असीम सहायता की। मि० मेरीमेन और जनरल बोथा से वे हमेशा मिलते रहते थे। अंत में जनरल बोथा की तरफ से वे एक संदेश लाये। उन्होंने कहा "जनरल बोथा आपके भावों को समझते हैं। वे आपकी फुटकर माँगें कुबूल करने के लिए तैयार हैं। पर एशियाटिक कानून को रद करने तथा दक्षिण आफ्रिका में नवीन आनेवालों के सम्बन्ध में जो कानून है, उसमें जरा भी परिवर्तन करने के लिए वे तैयार नहीं है। वे उस काले-गोरे के भेद को रद करना नहीं चाहते जो कानून के अन्दर है, और जिसे रद करने के लिए आप दरख्वास्त कर रहे हैं। जनरल बोथा इस बात को बतौर सिद्धान्त के मानते हैं कि वह भेद तो अवश्य ही रक्खा जाय। पर यदि क्षण भर के लिए मान लिया जाय कि वे इसे मंजूर भी कर लें कि उसे रद कर देना ठीक है, तो भी इस बात को दक्षिण आफ्रिका के गोरे कभी गवारा नहीं कर सकेंगे। यही

मत जनरल स्मट्स का भी है। उन दोनों साहबों ने यह बात अपने आखिरी निर्णय के बतौर कही, और आपको यह समझाने के लिए भी कहा है कि यदि इससे अधिक आप मांगेंगे तो आपको तथा आपकी कौम को भी मुसीबतें झेलना होंगी। इसलिए आप जिस किसी निर्णय पर पहुचें सोच समझकर तय करें। इस तरह आपसे कहने तथा आपको अपनी (आपकी) जिम्मेदारी का पूरा ख्याल करा देने के लिए भी जनरल बोथा ने मुझ से कहा है। इस तरह संदेश सुना कर लॉर्ड एँम्प्टहिल अपनी तरफ से बोले:—

"देखिए न, आपकी तमाम व्यावहारिक मांगों को तो जनरल बोथा स्वयं ही कुबूल करते हैं। फिर इस संसार में इन्सान को नरम-गरम भी तो होना ही पड़ता है। जितना हम चाहते हैं वह सब हमें नहीं मिल जाता। इसलिए मेरी भी आपको आग्रहपूर्वक यही सलाह है कि आप उनके सन्देश को स्वीकार कर लीजिए। हां, यदि आपको सिद्धान्त ही के लिए लड़ना है तो आप आगे चल कर फिर लड़ सकते हैं। भले ही आप दोनों साहबान इस बात पर अच्छी तरह विचार कर लीजिए और शान्ति से जवाब दीजिए। उसकी इतनी जल्दी नहीं है।"

यह सुनकर मैंने सेठ हाजी हाबीब की तरफ देखा। उन्होंने कहा "मेरी तरफ से कहिए कि मैं समझौता चाहने वाले पक्ष की तरफ से कहता हूँ कि मुझे जनरल बोथा की बात मंजूर है। अर्थात् हमें यह मंजूर है कि वे अभी जो दे रहे हैं उसको इस समय संतोष-पूर्वक मान्य करलें, और सिद्धान्त के लिए पीछे से हम झगड़ लेंगे। अब मैं इस बात को जरा भी पसंद नहीं करता कि कौम इससे और अधिक क्लेश पावे। जिस पक्ष की तरफ से मैं यह कह

रहा हूं, वह संख्या में भी अधिक है, और उसके पास धन भी काफी है।" इन वाक्यों का मैंने अक्षरशः अनुवाद करके सुना दिया। फिर मैं अपने पक्ष की तरफ से बोला—"आपने जो कष्ट उठाया है उसके लिए हम दोनों आपके एहसानमन्द हैं। मेरे साथी ने जो कहा सो ठीक है। वे जिस पक्ष की तरफ से बोलते हैं वह संख्या और धन में भी अधिक बलवान् है। परन्तु मैं जिनकी तरफ से बोलता हूँ, वे संख्या में कम हैं, और उनके पास धन भी कम है। किन्तु वे मरने तक के लिए तुले हुए हैं। वे व्यवहार और सिद्धान्त दोनों के लिए लड़ रहे हैं। अगर इन दोनों में से किसी एक को छोड़ना ही पड़े तो वे व्यवहार को छोड़कर सिद्धान्त के लिए जूझेंगे। जनरल बोथा की सत्ता का पूरा पूरा खयाल हमें है। पर अपनी प्रतिज्ञा को हम उससे भी अधिक वजनदार समझते हैं। इसलिए अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए हम बरबाद होने तक के लिए प्रसन्न हैं। हमें धीरज है। हमें यह भी पूरा विश्वास है कि यदि हम अपने निश्चय पर अटल रहेंगे, तो जिस परमात्मा के नाम पर हमने वह प्रतिज्ञा की है वह उसे अवश्य पूरी करेगा।

आपकी स्थिति को मैं अच्छी तरह समझ सकता हूँ। आपने हमारे लिए बहुत कर डाला। अब यदि आप हम मुट्ठी भर सत्याग्रहियों का साथ न दे सकेंगे तो हमें उससे धोखा नहीं होगा, और न हम उसके कारण आपके किये उपकारों को ही भूल सकते हैं। हमें आशा है कि आप भी हमें इस बात के लिए क्षमा करेंगे कि हम आपकी सलाह के अनुसार नहीं चल सकते। आप जनरल बोथा से सुखपूर्वक कहिएगा कि हम, जो अल्प संख्याक हैं वे, अवश्य ही अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेंगे। और हमें यह दृढ़ आशा है कि

हमारी दुख सहने की शक्ति अंत में उनके भी अंतःकरण को जरूर हिला देगी, और वे एशियाटिक कानून को रद करेंगे।"

लार्ड एम्टहिल ने उत्तर दिया :—

"आप यह न समझिएगा कि मैं आपका पक्ष छोड़ दूँगा। मुझे भी अपने सौजन्य की तो रक्षा करनी ही होगी ? अंगरेज लोग जिस काम को अपने हाथ में लेते हैं, उसे सहसा नहीं छोड़ते हैं। आपकी लड़ाई न्यायोचित है और आपके साधन भी शुद्ध हैं। फिर मैं आपको कैसे छोड़ सकता हूँ ? पर मेरी परिस्थिति से भी आप नावाकिफ नहीं हैं। दुःख तो भोगना होगा आपको। इसलिए जरा भी कहीं समझौता हो सकता हो, तो उसे कवूल करने की सलाह आपको देना मेरा धर्म है। पर यदि अपनी टेक के लिए आपको कुछ कष्ट उठाने पड़ें और आप उन्हें हर्ष-पूर्वक सहने को तैयार हों, तो फिर मैं आपको कैसे रोक सकता हूँ ? मैं तो आपको धन्यवाद ही दूँगा। इसलिए आपकी कमिटी का अध्यक्ष तो मैं अवश्य ही रहूँगा और मुझसे जो कुछ सेवा-सहायता वन पड़ेगी जरूर करता रहूँगा। पर आपको इतना स्मरण रखना चाहिए कि सरदार-सभा में मैं एक छोटासा सभ्य हूँ। मेरा प्रभाव वैसा कहने योग्य नहीं है। किन्तु आप इतना विश्वास रक्खें कि वह जो कुछ भी होगा उसका उपयोग वरावर आप ही के लिए होता रहेगा।"

ये उत्साह-वर्धक वचन सुनकर हम दोनों वड़े खुश हुए।

पाठकों ने शायद एक मीठी वात की तरफ ध्यान नहीं दिया होगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सेठ हाजी हावीव और मेरे वीच कुछ मतभेद था। तथापि हम दोनों में प्रेम और विश्वास भी इतना था कि सेठ हाजी हावीव को अपना विरोधी कथन मेरे

द्वारा कहलाने में जरा भी हिचकिचाहट न हुई। उनको इतना विश्वास था कि मैं उनका कथन लार्ड एम्प्टहिल के सामने बिलकुल अच्छी तरह पेश कर दूँगा।

यहां पर पाठकों से एक असम्बद्ध बात भी कहे देता हूँ। इस बार इंगलैण्ड में क्रान्तिकारियों से मेरी बातें हुईं। उन सब की दलीलों का खंडन करने तथा दक्षिण आफ्रिका में बसने वाले उसी प्रकार के विचार रखने वाले मनुष्यों का शंका-समाधान करते करते 'हिन्द स्वराज्य' का निर्माण होगया। उसमें प्रतिपादित मुख्य मुख्य तत्वों पर मैंने लार्ड एम्प्टहिल के साथ भी चर्चा कर ली थी। और यह करने का उद्देश केवल यही था कि उनका कहीं यह खयाल न हो जाय कि मैंने अपने विचारों को छिपाकर उनके नाम का और उनकी दी हुई सहायता का दक्षिण आफ्रिका के काम के लिए दुरुपयोग किया। उनके साथ इस विषय पर जो चर्चा हुई वह मुझे हमेशा याद रहेगी, उनके घर पर कोई बीमार था, तथापि वे मुझे मिले थे। और यद्यपि 'हिन्द स्वराज' में लिखे मेरे विचारों से वे पूरी तरह सहमत तो नहीं थे, तथापि दक्षिण अफ्रिका के युद्ध में अंत तक वे यथाशक्ति भाग लेते रहे। और हमारे बीच का वह स्नेह-सम्बंध भी अन्त तक उसी प्रकार मधुर बना रहा।

नवां अध्याय

टॉल्स्टॉय फार्म

इस बार जो डेप्यूटेशन इंग्लैण्ड पहुंचा था, वह लौटते समय अच्छी खबर नहीं लाया। मुझे इस बात की विशेष चिन्ता नहीं थी—कि लोग लार्ड एम्प्टहिल की बातों से क्या नतीजा निकालेंगे। मैं यह भी जानता था—कि अंत तक मेरा साथ कौन कौन देंगे। सत्याग्रह विषयक मेरे विचार और भी परिपक्व हो गये। मैं उसकी व्यापकता और अलौकिकता को और भी अधिक अच्छी तरह समझ सकता था, इसलिए मुझे शांति थी, इंग्लैंड से वापिस लौटते समय जहाज में मैंने 'हिन्द-स्वराज' को लिखा। उसका—हेतु केवल सत्याग्रह की भव्यता को दिखाना मात्र था। वह पुस्तक मेरी श्रद्धा का नाप है। इसलिए लड़ने वालों की संख्या का सवाल ही मेरे सामने खड़ा नहीं होता था।

पर मुझे धन की जरूर चिंता रहती थी। लम्बे-समय तक युद्ध का संचालन और पास काफी धन का न होना, यह एक भारी कठिनाई मेरे सामने खड़ी थी। माना कि बिना धन के भी युद्ध हो सकता है, कई बार धन सत्य के युद्ध को दूपित कर देता है, परमात्मा अक्सर सत्याग्रही को—मुमुक्षु को आवश्यकता से अधिक धन देता ही

नहीं, इत्यादि बातों का ज्ञान उस समय मुझे आज की तरह स्पष्ट रूप से नहीं था। पर मैं आस्तिक हूं। परमात्मा ने उस अवस्था में भी मेरा साथ दिया। मेरी आपत्ति दूर हुई। एक ओर से दक्षिण अफ्रिका के किनारे पर उतर कर कौम को अपने काम की निष्फलता की खबर देना मेरे किस्मत में बदा था, तहां दूसरी ओर उसी समय परमात्मा ने मुझे आर्थिक चिंता से मुक्त करना ठान लिया था। क्योंकि जहाज से उतरते ही इंग्लैंड का तार मिला कि सर रतन टाटा ने २५०००) का दान भेजा है। इतनी बड़ी रकम उस समय मेरे लिए काफी थी। मेरा काम चल निकला।

पर इतनी बड़ी रकम से—अथवा इससे भी अधिक—मनमाने-द्रव्य से भी सत्याग्रह के—सत्य के—आत्मशुद्धि के अथवा आत्मबल के युद्ध का संचालन नहीं किया जा सकता था। इस युद्ध के लिए तो चारित्र्य रूपी मूल धन की आवश्यकता होती है। मालिक से शून्य महल जिस तरह खंडहर के समान मालूम होता है, ठीक वही हाल चरित्र-हीन मनुष्य और उसकी सम्पत्ति का समझिए। सत्याग्रहियों ने देखा कि अब इसका कोई ठिकाना नहीं, कि युद्ध कितने दिन तक चलता रहेगा। कहां तो जनरल बोथा और जनरल स्मट्स की एक इंच भर भी न हटने की प्रतिज्ञा, और कहां सत्याग्रहियों की यह प्रतिज्ञा कि हम मरते दम तक जूझेंगे। हाथी और चिउंटी के बीच युद्ध हो रहा था। हाथी के एक पैर के नीचे संख्यातीत चिउंटियां दब सकती हैं। सत्याग्रही अपने सत्याग्रह की अवधि का समय सीमित नहीं कर सकते थे। एक वर्ष लगे या अनेक, उनके लिए तो एक ही बात थी। उनके लिए तो लड़ते रहना ही विजय थी, और लड़ने के मानी थे जेल जाना, तथा देश से निर्वासित हो जाना। पर इस बीच परि-

वार की क्या हालत हो? निरन्तर जेल जानेवाले को कोई नौकरी तो किसी प्रकार दे ही नहीं सकता था। जेल से छूटने पर क्या तो वह स्वयं खावे और क्या बच्चों को खिलावे? रहे भी कहां पर? किराया कौन दे? आजीविका न मिलने से तो सत्याग्रही भी विचलित हो जाय। भूखों मर कर और अपने प्रियजनों को भूखों मारकर युद्ध करने वाले संसार में विरले ही मिल सकेंगे।

आज तक तो जेल जानेवालों के कुटुम्बों का पोषण उनको प्रति मास द्रव्य देकर किया जाता था। सबको अपनी २ आवश्यकतानुसार दिया जाता था—चिउँटी को कण और हाथी को मन। सबको एकसा तो कभी दे ही नहीं सकते थे। पाँच बच्चे वाले सत्याग्रही को और आश्रित-हीन ब्रह्मचारी को एक पंक्ति में तो हरगिज़ नहीं रक्खा जा सकता था। यह भी नहीं हो सकता था, कि केवल ब्रह्मचारियों को ही युद्ध में शामिल करें। फिर द्रव्य किस नियम के अनुसार दिया जाय? अभी तक अक्सर यही किया जाता था, कि हरएक कुटुम्ब से पूछा जाता कि कम से कम उसकी आवश्यकता क्या थी? बस उसी पर विश्वास रखकर खर्च के लिए दिया जाता था। पर इसमें कपट के लिए बहुत भारी स्थान था। कपटियों ने इसका कुछ हद तक दुरुपयोग भी किया? कई ऐसे भी थे जो थे तो निस्पृह, पर एक खास सीमा तक सहायता की जरूर आशा करते थे। मैंने देखा कि इस तरह युद्ध बहुत दिन तक चलना असम्भव है। इस तरह तो योग्य आदमी के साथ अन्याय होने का और अपात्र को अनुचित लाभ होने का डर था। इस कठिनाई से निकलने का रास्ता तो केवल एक ही था। सब कुटुम्बों को एक स्थान पर रक्खा जाय और सभी साथ रह कर

काम करें। इसमें किसी के साथ अन्याय होने का डर तो था ही नहीं। साथ ही कहा जा सकता है कि पाखंड, झूठ आदि के लिए भी कोई अवकाश नहीं रह सकता था। सार्वजनिक धन का सदुपयोग तथा सत्यग्राहियों के कुटुम्बों को नवीन सादे और अनेकों के साथ हिलमिल कर रहने की अनुपम शिक्षा इत्यादि सभी बातें एक साथ हो सकती थीं। इस तरह कई प्रान्तों और कई धर्म के भारतीयों को एक साथ रहने का सुअवसर मिल सकता था।

पर ऐसा स्थान मिले कैसे ? शहर में रहने जाते तो शायद बकरी को हटा कर ऊँट को घुसाने वाली बात चरितार्थ होती। मासिक निर्वाह के जितनी रकम तो किराये में ही चली जाती। फिर वहाँ सादगी से रहना भी मुश्किल। इतना होने पर भी शहर में इतना बड़ा मकान शायद ही मिल सकता, जहाँ सभी कुटुम्ब मिल कर घर बैठे कोई उपयोगी काम कर सकते। इसलिए हम लोग इसी नतीजे पर पहुँचे कि वह स्थान न तो शहर से बहुत दूर और न बहुत नजदीक ही हो। फिनिक्स जरूर एक ऐसा ही स्थान था। वहाँ से इण्डियन ओपीनियन प्रकाशित हो रहा था। कुछ खेती भी हो रही थी। दूसरी भी अनेकों सुविधायें थीं। पर वह था जोहान्सबर्ग से ३०० मील की दूरी पर, अर्थात् ३० घंटे के रास्ते पर। इतनी दूर सत्याग्रहियों के कुटुम्बों को लाना, ले जाना जरा मुश्किल और महँगा भी था। फिर वे भी अपने घर-बार छोड़कर इतनी दूर जाने को तैयार नहीं हो सकते थे। और अगर हो भी जावें तो सत्याग्रहियों के छूटने पर उन्हें वहाँ भेजना आदि भी असम्भव सा प्रतीत हुआ।

इसलिए स्थान तो ट्रान्सवाल में और सो भी जोहान्सबर्ग के

नजदीक ही होना जरूरी था। मि० कैलनबेक का परिचय मैं पहले दे चुका हूँ। उन्होंने ११०० एकड़ जमीन खरीदी, और वह सत्याग्रहियों के उपयोग के लिए दे दी। उस जमीन में कुछ फल-पौधे और एक छोटा सा पाँच सात मनुष्यों के रहने योग्य मकान भी था। करीब ही पानी का एक झरना भी था। स्टेशन यहाँ से एक मील था और जोहान्सबर्ग २१ मील। बस इसी जमीन पर मकान बाँध कर सत्याग्रही कुटुम्बों को बसाने का निश्चय किया।

दसवां अध्याय

टॉल्स्टॉय फार्म (२)

जमीन ११०० एकड़ थी। उसके एक सिरे पर एक छोटी सी टेकड़ी थी। जिस पर एक छोटा सा मकान भी था। फल के कुछ पेड़ थे, जिनमें नारंगी, ऑप्रिकोट, प्लम खूब पैदा होते थे—इतनी तादाद में कि मोसम में सत्याग्रहियों के पेट भर खाने पर भी बच रहते। एक छोटा सा झरना भी था, जिससे स्वच्छ पानी मिल सकता था। रहने के स्थान से वह कोई ५०० गज की दूरी पर होगा। पानी कावड़ों से लाना पड़ता, खासा परिश्रम भी हो जाता।

इस स्थान पर हमने यह नियम रखा कि नौकरों के द्वारा किसी प्रकार का घरू, खेती का या मकान बाँधने का काम भी न लिया जाय। इसलिए पाखाने साफ करने से लेकर खाना पकाने तक का सभी काम प्रत्येक कुटुम्ब को स्वयं ही करना पड़ता था। कुटुम्बों को रखना था। पर पहले ही से यह नियम बना रक्खा था कि स्त्रियों और पुरुषों को अलग अलग ही रक्खा जाय? इसलिए मकान भी अलग अलग और दूर दूर ही बनाये गये। दस स्त्रियों और साठ पुरुषों के रहने योग्य मकान बनाने का फौरन निश्चय किया गया। मि० कैलनबेक के रहने के लिए भी एक मकान

बनाना था और उसके साथ ही साथ एक पाठशाला के लिए भी। इसके अलावा बढ़ईखाना, मोचीखाना आदि के लिए भी एक मकान बना लेना आवश्यक था ?

यहाँ पर जो लोग रहने के लिए आने वाले थे, वे गुजरात, मद्रास, आंध्र और उत्तरीय भारत के थे। धर्मानुसार वे हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई भी थे। लगभग ४० तरुण दो तीन बूढ़े, पाँच स्त्रियाँ और २५।३० बच्चे थे, जिनमें ४।५ बालायें थीं।

स्त्रियों में से जो ईसाई थीं उन्हें और दूसरों को भी मांसाहार की आदत थी। मि० कैलेनबक का और मेरा अभिप्राय था कि बड़ा अच्छा हो यदि मांसाहार को स्थान न दिया जाये। पर सवाल यह था कि ऐसे लोगों को कुछ समय के लिए भी मांस छोड़ने के लिए किस तरह कहा जाय, जिन्हें जन्म ही से मांस के प्रति कोई नफरत न हो, जो आपत्काल में ऐसे स्थान पर आ रहे थे, और जिन्हें बचपन से उसका दृढ़ अभ्यास था; यदि नहीं कहते तो खर्च बेहद बढ़ जाता। फिर जिन्हें गो-मांस खाने की आदत हो क्या उन्हें वह दिया जाय? रसोई घर कितने हों ? मेरा धर्म क्या था ? इन सब कुटुम्बों को द्रव्य दे कर मैं मांसाहार या गोमांस का व्यवहार करने के लिए, अप्रत्यक्ष रूप से क्यों न हो, सहायता तो कर ही रहा था ! अगर मैं यह नियम कर दूँ कि मांसाहारी को सहायता नहीं मिल सकती तब तो मुझे शुद्ध निरामिषभोजी लोगों के बल पर ही सत्याग्रह चलाना पड़ेगा। पर यह हो भी कैसे सकता था? युद्ध तो तमाम भारतीयों के लिए था। मैं अपना धर्म स्पष्ट रूप से समझ गया। ईसाई या मुसलमान भाई

यदि गोमांस भी मांगते तो भी उनको मुझे वह देना ही भाग था। मैं उनको यहाँ आने से रोक नहीं सकता था।

पर प्रेम का वाली परमात्मा है। मैंने तो सरलता पूर्वक ईसाई बहिनों के सामने अपनी संकटापन्न दशा रक्खी। मुसलमान माता-पिताओं ने तो मुझे यह छुट्टी दे रक्खी थी, कि मैं केवल निरामिष पाकशाला ही रक्खूं। बहनों के साथ मुझे बात चीत कर लेना अभी बाकी था। उनके पुत्र वा पति तो जेलों में ही थे। वे भी मुझे सम्मति दे चुके थे। कई बार उनके साथ में ऐसे प्रसंग हम लोगों के सामने उपस्थित हुए थे। बहनों के साथ इतना निकट सम्बन्ध होने का यह पहला ही अवसर था। उनके सामने मैंने मकान सम्बन्धी असुविधा धनाभाव और मेरे व्यक्तिगत विचार इन तीनों बातों को रख दिया। साथ ही यह कह कर मैंने उन्हें निर्भय भी कर दिया था कि यदि वे चाहेंगी तो मैं तो उन्हें गोमांस भी दे दूंगा। बहनों ने प्रेम-भाव से यह स्वीकार कर लिया कि वे माँस नहीं मंगावेंगी।

खाना पकाने का काम बहनों को सौंप दिया गया। उनकी सहायता के लिए हम में से एक दो पुरुष भी रख दिये गये। जिन में मैं तो अवश्य ही था। मेरी उपस्थिति छोटे-मोटे मत-भेद के मामलों को यों ही भगा दिया करती थी। यह भी तय हुआ कि भोजन बिलकुल सादा हो। भोजन करने का समय भी निश्चित कर दिया गया। सब के लिए पाकशाला एक ही रक्खी गयी। सब एक साथ ही भोजन करते। सब अपने अपने वर्तन भी साफ कर लिया करते। सार्वजनिक वर्तन साफ करने के लिए बारियाँ मुकर्रर कर दी गई थीं। मुझे यहाँ पर यह कह देना चाहिए कि

टॉल्स्टाय फार्म बहुत दिन तक चलता रहा, पर वहाँ न तो कभी भाइयों ने माँसाहार के लिए इच्छा जाहिर की और न, बहनों ने। शराब, तंबाकू आदि तो पहले ही से बन्द थे।

मैं पहले लिख चुका हूँ, कि हमारा यह भी आग्रह था कि मकान बाँधने का काम हमी-हम कर लें। राज तो स्वयं कैलेनबेक ही थे। उन्होंने एक और यूरोपियन साथी ढूंढ़ लिया। एक गुजराती सुतार ने मुफ्त सहायता देना स्वीकार किया, और वही दूसरे एक सुतार को भी कम मज्दूरी पर तय करके ले आया। शेष मज्दूरों का काम हम लोगों ने खुद ही कर लिया। हम लोगों में जो मजबूत और फुर्तीले बदन वाले थे उन्होंने तो हद कर दी।

बिहारी नामक एक बढ़िया सत्याग्रही था। उसने बढई का आधा काम अपने जिम्मे ले लिया। स्वच्छता रखना, शहर में जाकर वहां से सब समान वगैरा लाना आदि काम सिंह के समान बहादुर थम्बी नायडू ने अपने जिम्मे ले लिया।

इस टुकड़ी में भाई प्रागजी देसाई थे। उन्होंने कभी जीवन में धूप-जाड़ा नहीं सहा था। और यहाँ तो जाड़ा था, धूप थी और बारिश की मौसिम भी थी। हमने अपना श्रीगणेश तो तम्बू में रह कर किया था। मकान बँध कर तैयार हों, तब उनमें सोएँ। करीब दो महिनों के अन्दर मकान तैयार हो गये। मकान टीन के थे, इसलिये उनको बनाने में कोई देरी नहीं लगी। आवश्यक आकार-प्रकार की लकड़ी तैयार मिल सकती थी। केवल नाप-नूप कर टुकड़े मात्र करना पड़ते। दरवाजे खिड़कियाँ आदि ज्यादह नहीं बनाने थे। इसीलिए इतने थोड़े समय में सभी मकान तैयार हो गये। पर इस काम-काज ने भाई प्रागजी की खूब खबर ले

डाली। जेल की बनिस्बत फार्म का काम जरूर ही अधिक सख्त था। एक दिन तो परिश्रम और बुखार के कारण वे बेहोश तक हो गये। पर वे यों इतनी जल्दी हारने वाले आदमी नहीं थे। यहाँ उन्होंने अपने शरीर को पूरी तरह मिहनत पर चढ़ा दिया, और अन्त में इतनी शक्ति प्राप्त कर ली कि वे सब के साथ साथ काम करने लग गये।

यही हाल जोसेफ रॉयपन का था। वे तो बरिस्टर थे पर उन्हें इस बात का अंहकार नहीं था। वे अतिशय कठिन परिश्रम नहीं कर सकते थे। ट्रेन से अपना असबाब उतार कर उसे बाहर गाड़ी पर रख देना भी उनके लिए कठिन था। परन्तु यहाँ तो वे भी मिहनत पर चढ़ गये। उन्होंने वह सब यथाशक्ति कर लिया।

टॉल्स्टॉय फार्म पर कमजोर आदमी सशक्त हो गये और सभी परिश्रम के आदी हो गये।

सभी को किसी न किसी कार्यवश जोहान्सबर्ग जाना पड़ता बच्चों को भी वहाँ की सैर करने की इच्छा होती। मुझे भी काम-काज के लिए वहाँ जाना पड़ता। इसलिए यह तय हुआ कि सार्वजनिक काम के लिए जाने वाले ही को रेल से जाने की इजाजत दी जाय। तीसरे दर्जे को छोड़ कर ऊपर के दर्जे में तो किसी को भी नहीं जाना चाहिए। जिसे केवल सैर करने के लिए जाना हो वह पैदल जावे। हाँ, रास्ते में नाश्ते के लिए कुछ साथ में जरूर ले जाय। शहर में अपने खाने पर कोई खर्च न करे। यदि इतने कड़क नियम नहीं बनाये जाते, तो जिन पैसों की बचत करने के लिए वनवास के कष्ट उठाये थे, वे रेल-किराया और शहर के नाश्ते ही में उड़ जाते।

घर से हम लोग जो नाश्ता ले जाते वह भी सादा ही होता था। घर पर पीसे हुए मोटे और विना छने हुए आटे की रोटी, मुंफली से घर पर ही बनाया हुआ मक्खन, और संत्रे के छिलकों का मुरब्बा। आटा पीसने के लिए हाथ से चलाने की लोहे की चक्की खरीद ली गई थी। मुंफली को भूंजकर पीस डालने से मक्खन बन जाता है। दूध से बनाये मक्खन की वनिस्वत इसकी कीमत एक चौथाई होती थी। संत्रे तो फार्म में ही पैदा होते थे। फार्म पर गाय का दूध हम शायद ही कभी खरीदते। अक्सर डिब्बे के दूध से ही काम चला ले जाते।

हां, तो सैर की वात। जिनको सैर करने के लिए जोहान्सवर्ग जाने की इच्छा होती, वे सप्ताह में एक या दो वार जाते। पर उसी दिन लौट आते। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि फासला २१ मील का था। पैदल जाने के इस नियम से सैकड़ों रुपये वचगये। और पैदल जाने वालों को भी वड़ा लाभ हुआ। कितनों ही को तो चलने का नवीन अभ्यास हो गया। नियम यह था कि इस तरह जाने वाले को रात के दो वजे उठकर २॥ वजे निकल पड़ना चाहिए। सव छः से सात घंटों के अंदर जाहोन्सवर्ग पहुंच जाते। कम से कम समय में पहुंचने वाले को करीव चार घंटे और अठारह मिनिट लगते।

पाठक यह न ख्याल करलें कि ये नियम हद से ज्यादह कठोर थे। सभी वड़े प्रेम पूर्वक इनका पालन करते थे। वलात्कार से तो मैं एक भी आदमी को नहीं रोक सकता था। नौजवान तो क्या सफर में, और क्या आश्रम में, सभी काम हंसते हंसते और किलकते हुए कर डालते। मजदूरी करते समय वे इतनी ऊधम मचाते कि उन्हें रोकते रोकते मुश्किल हो जाती। आश्रम पर तो हमने यह

नियम बना लिया था कि बच्चों से उतना ही काम लिया जाय, जितना उन्हें खुश रखते हुए लिया जा सके। पर मजा यह कि इसके कारण कभी कम काम नहीं हुआ।

पाखानों की कथा समझ लेने योग्य है। इतनी बड़ी बस्ती थी, पर कहीं किसी को कूड़ा-कचरा, मैला, या जूठन ढूँढ़े नहीं मिल सकती थी। सभी कूड़ा-कचरा एक गड्हे में डाल कर ऊपर से मिट्टी डाल दी जाती। रास्ते में कोई पानी तक नहीं डालता था। सब पानी बरतनों में एकत्र कर लिया जाता, और झाड़ों में डाल दिया जाता। जूठन और साग के कचरे से सुंदर खाद बन जाता। रहने के मकान के नजदीक जमीन में एक चौरस टुकड़ा डेढ फूट गहरा खोद रक्खा था। उसी में सब मैला गाड़ दिया जाता। और ऊपर से खुदी हुई मिट्टी दबा दी जाती। जरा भी दुर्गंध नहीं आती थी। मक्खी तक वहाँ नहीं भिन भिनाती थी। मतलब यह कि किसी को यह ख्याल तक नहीं होता था कि वहाँ मैला गडा हुआ है। अलावा इसके, खेत को भी सुंदर खाद मिलता रहता। अगर हम मैले का सदुपयोग करना सीख लें तो लाखों रुपयों का खाद बचा लें और स्वयं अनेक रोगों से बच जावें। मलोत्सर्ग सम्बन्धी हमारी कुटेव के कारण हम पवित्र नदियों के किनारों को खराब करते हैं, और मक्खियों की पैदायश को बढ़ाते हैं। और नहा धो कर साफ हो लेने पर भी हमारी इस बेहूदी लापरवाही के कारण खुली विष्टा पर बैठी हुई मक्खी को हम अपने शरीर का स्पर्श करने देते हैं। एक छोटी सी कुदाली हमें बहुत भारी गंदगी से बचा सकती है। चलने की राह पर मैला डालना, थूंकना, नाक साफ करना, यह सब ईश्वर और मनुष्य के प्रति महान् अपराध है। इसमें दया का अभाव है। जो मनुष्य जंगल में रहकर

भी अपनी विष्ठा को मिट्टी में नही दबा देता, वह दंड के पात्र है।

अब हमारा काम यह था कि सत्याग्रही कुटुम्बों को उद्यमी रक्खें, पैसे बचावें, और अन्ततः हम स्वाश्रयी बन जावें। हमने सोचा कि अगर हम इतना कर गुजरे तो चाहे जितने समय तक लड़ सकेंगे। जूतों का खर्च भी तो था ही। बंद जूते पहनने से गरमी में तो बड़ी हानि होती है। सारे पैर में पसीना हो आता है और वह नाजुक हो जाता है। हमारे जैसी आबोहवा वाले देशों में रहने वालों को तो मोजों की आवश्यकता ही नही है। हां, कंकड, पत्थर, कांटा आदि से पैर की रक्षा करने के लिए हमने एक हद तक जूते को आवश्यक माना था। इसलिए हमने कंटक-रक्षक अर्थात् चप्पल बनाने का धंधा सीखने का निश्चय किया। दक्षिण आफ्रिका में ट्रेपिस्ट् नामक रोमन कैथालिक पादरियों का एक मठ है। वहाँ पर इस तरह के उद्योग चलते हैं। वे जर्मन होते हैं। उनमें से एक मठ में जा कर कैलनबेक ने चप्पल बनाना सीख लिया, और मुझे तथा दूसरे साथियों को भी सिखा दिया। इस तरह कितने ही युवक चप्पल बनाना सीख गये और हम अपने मित्र-वर्ग में उनको बेंचने भी लग गये। कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरे कई चेले इस कला में मुझ से बहुत आगे बढ़ गये। दूसरा काम जो हमने शुरू किया था वह बढ़ई का था। हमारी बस्ती एक छोटासा गांव ही थी। वहाँ तो पाट से लगाकर संदूक तक छोटी मोटी चीजों की जरूरत बनी रहती। वे सब चीजें हम खुद ही बना लेते। उन परोपकारी मिस्त्रियों ने तो कितने ही महीनों तक हमारी सहायता की। इस काम के नायक स्वयं मि० कैलनबेक थे, और हमें क्षण क्षण पर उनके कौशल और दक्षता का अनुभव होता था।

बालक-बालिकाएं और युवकों के लिए पाठशाला तो अवश्य ही होनी चाहिए न? यह काम सब से कठिन मालूम हुआ, और अब तक पूर्णता को नहीं पहुंचा। शिक्षा का भार खासकर मि. कैलनबेक और मुझपर था। पाठशाला का समय दो पहर के बाद ही रक्खा जा सकता था। मज्दूरी करते करते हम दोनों खूब थक जाते। विद्यार्थी भी जरूर ही थक जाते। अर्थात् बड़ी देर तक मारे नींद के वे भी झोंके खाते और हम भी आंखों पर पानी लगाते, बच्चों के साथ हंसी-खेल करते और उनका तथा हमारा भी आलस्य भगाते। पर कई बार यह सब प्रयत्न निष्फल होता। शरीर को आवश्यक आराम देना ही पड़ता। किन्तु यह तो पहला और सब से छोटा विघ्न हुआ। क्योंकि ऊंघते रहने पर भी हम वर्ग को तो शुरु ही रखते। किन्तु सब से बड़ी कठिनाई तो यह थी कि तामिल तेलगु और गुजराती इन तीनों भाषाओं के बोलने वालों को एक साथ क्या और किस तरह पढाया जाय? मातृभाषा के द्वारा शिक्षा देने का लोभ तो हमें अवश्य ही रहता था। तामिल तो मैं जानता भी था पर तेलगु तो कसम खाने को भी नहीं। इस हालत में अकेला एक शिक्षक क्या क्या कर सकता था? युवकों में से कुछेक से शिक्षक का काम लेना शुरू किया। पर वह सफल नहीं हुआ। भाई प्रागजी का उपयोग अवश्य ही होता था। युवकों में से कई नटखट थे और कुछ आलसी। किताबों से उनकी कभी बनती ही नहीं थी। भला ऐसे विद्यार्थी पाठकों के पास क्यों कर जावें? फिर मेरा काम भी अनियमित रहता था। आवश्यकता पड़ने पर मुझे जोहान्सबर्ग जाना ही पड़ता। यही हाल मि. कैलन-बेक का था। दूसरी कठिनाई धार्मिक-शिक्षा के विषय में पड़ती। पारसी को अवेस्ता पढ़ने की इच्छा होती। एक खोजा

बालक था। उसके पास अपने पंथ सम्बन्धी एक छोटीसी किताब थी। उसे पढाने का भार उसके पिता ने मुझपर डाल रक्खा था। मुसलमान और पारसियों के लिए तो मैंने कुछ किताबें एकत्र कीं। हिन्दूधर्म के तत्व भी, जहां तक मैं उन्हें समझा था मैंने लिख रक्खे थे—यह याद नहीं कि मेरे बच्चों के लिए या फार्म में। अगर-वे इस समय मेरे पास होते तो मैं अपनी गति-प्रगति जानने के लिए यहां लिख देता। पर यों तो मैंने अपने जीवन में ऐसी कितनी ही वस्तुयें फेंक दी हैं, और जला डाली हैं। ज्यों ज्यों मुझे इनके संग्रह करने की जरुरत कम मालूम होती गई, और साथ ही साथ ज्यों ज्यों मेरा व्यवसाय बढ़ता गया, त्यों त्यों मैं उनका नाश ही करता गया। पर इसके लिए मुझे किसी प्रकार का पश्चात्ताप भी नहीं होता। यदि मैं ऐसा न करता तो उनका संग्रह मेरे लिए एक भारी बोझा और खर्चीली चीज़ हो जाता। उनको संग्रहित करने के साधन मुझे उत्पन्न करना पड़ते। और यह तो मेरे अपरिग्रही आत्मा के लिए असह्य हो जाता।

पर यह शिक्षा-प्रयोग व्यर्थ नहीं साबित हुआ। लड़कों में कभी असहिष्णुता नहीं दिखाई दी। एक दूसरे के धर्म और रीति-नीति का वे आदर करना सीख गये, और सभ्यता सीख गये। उद्यमी भी बने। आज भी उन बालकों में से जितनों को मैं जानता हूं, उनके कार्यों को देखते हुए मुझे यही मालूम होता है, कि टॉल्स्टॉय फार्म पर उन्होंने जो कुछ सीखा था वह व्यर्थ नहीं गया। अधूरा सही, पर था वह विचारमय और धार्मिक प्रयोग। टॉलस्टॉय फार्म की अत्यन्त मधुर स्मृतियों में से शिक्षा की स्मृति किसी प्रकार कम मधुर नहीं है।

पर इन मधुर स्मृतियों के लिए एक पूरे प्रकरण की आवश्यकता है।

ग्यारहवां अध्याय

टॉल्स्टॉय फार्म (३)

इस प्रकरण में टॉल्स्टॉय फार्म की कितनी ही स्मृतियों का संग्रह होगा। इसलिए अवश्य ही वे असम्बद्ध तो मालूम होंगी, पर पाठक इसके लिए मुझे क्षमा करें।

शिक्षा के लिए जैसा वर्ग मुझे मिला था शायद ही वैसा किसी को मिला हो। सात सात साल के बालक-बालिकाओं से लेकर बीस बीस वर्ष के युवक और बारह बारह तेरह तेरह वर्ष की बालिकाएँ भी इसमें थीं। कई लड़के तो निरे जंगली थे। खूब ऊधम मचाते।

इस संघ को क्या पढ़ाया जाय? इन सब के स्वभाव के अनुकूल खुद को किस तरह बनाया जाय? साथ ही मुझे सब के साथ किस भाषा में बातचीत करनी चाहिए। तामिल-तेलगू लड़के या तो अपनी मातृभाषा समझते या अंगरेजी। वे कुछ कुछ डच भी जानते थे। मुझे तो अंगरेजी से ही काम लेना पड़ा। गुजरातियों के साथ गुजराती में, और शेष सब के साथ मैं अंगरेजी में बोलता। मैं उन्हें प्रधानतया चटकीली कहानियां कहता, या पढ़कर सुना देता। उद्देश यही था कि एक साथ रहते हुए

उन्हें मित्र भाव या सेवा के आदर्श के अनुगामी बना दिया जाय। इतिहास भूगोल का कुछ ज्ञान देकर कुछ कुछ लिखना भी सिखाता था। कुछेक को अंक-गणित भी पढ़ाता था। इस तरह गाड़ा चला ले जाता था। प्रार्थना के लिए कितने ही भजन पढ़ाये जाते थे। उनमें भाग लेने के लिए तामिल बालकों को भी ललचाता था।

बालक और बालिकायें स्वतन्त्रता पूर्वक साथ साथ बैठते थे। टॉल्स्टॉय फार्म पर मेरा यह प्रयोग सब से अधिक निर्भय रहा। जो स्वतन्त्रता मैंने उन्हें वहाँ दी और जिसका विकास मैंने उनके अन्दर किया, वह स्वतन्त्रता आज उन्हें देने की तथा उसका विकास करने की हिम्मत मुझे भी नहीं है। मुझे बराबर यह ख्याल बना रहता है कि आज की बनिस्बत तब मेरा मन अधिक निर्दोष था। इसका कारण मेरा अज्ञान भी हो सकता है। उसके बाद मुझे कई बार धोखा हुआ है, कई कड़ुवे अनुभव भी हुए हैं। जिन्हें मैं केवल निर्दोष समझता था वे सदोष साबित हुए हैं। खुद अपने अन्दर गहराई के साथ देखने पर मैंने विकारों को छिपे हुए पाया है। इसलिये अब मेरा दिल दीन और रंक बन गया है।

किन्तु मुझे मेरे उस प्रयोग पर कोई पश्चात्ताप नहीं होता। मेरी आत्मा तो यह भी साक्ष देती है, कि इस प्रयोग के कारण कोई खराबी नहीं पैदा हुई। पर जिस तरह दूध का जला छांछ को फूंक फूंक कर पीता है, कुछ वैसी ही हालत अब मेरी हो गई है।

मनुष्य श्रद्धा अथवा धैर्य किसी दूसरे से नहीं चुरा सकता। 'संशयात्मा विनश्यति' टॉल्स्टॉय फार्म पर मेरी हिम्मत और श्रद्धा चरम सीमा को पहुंच गई थीं। मैं परमात्मा से बार बार प्रार्थना

कर रहा हूं कि वे मुझे फिर वही हिम्मत और श्रद्धा दें। पर वे सुनें तब न! उनके सामने तो मेरे जैसे असंख्य भिखारी हैं। हां, आशा के लिए इतना स्थान जरूर है कि उनके द्वार पर जहां असंख्य भिखारी खड़े हैं तहां उनके कान भी तो असंख्य हैं। इसलिए मुझे उनपर पूरी श्रद्धा है। जब मैं योग्य हो जाऊंगा तब वे मेरी प्रार्थना को जरूर सुनेंगे।

यह था मेरा वह प्रयोग।

बदमाश समझे जाने वाले लड़कों को और निर्दोष सयानी बालिकाओं क मैं साथ साथ स्नान के लिए भेजता। बालकों को मर्यादा-धर्म खूब समझा दिया गया था। मेरे सत्याग्रह से वे सब परिचित थे। माता की तरह मेरा उन पर प्यार था। इस बात को मैं तो जानता ही था, पर वे भी उसे मानते थे। पाठक उस पानी के झरने को न भूलें। पाकशाला से वह दूर था। वहां पर इस तरह का सम्मीलन होने दिया जाय और साथ ही निर्दोषित्ता की भी आशा रक्खी जाय? मेरी आंखें तो उन बालिकाओं के साथ साथ उसी तरह घूमती रहती थीं, जिस तरह कि एक माता की आंखें अपनी लड़की के आसपास घूमती रहती हैं। प्रत्येक काम का समय बंधा हुआ था। स्नान के लिए सब लड़के-लड़कियां साथ जाते। संघ में एक प्रकार की सुरक्षितता होती है, वह यहां भी थी। एकांत तो कहीं भी न मिलता। और यदि कहीं मिलता भी तो कम से कम मैं तो जरूर ही वहां रहता।

खुले बरामदे में सब सोते थे। बालक और बालिकायें भी मेरे ही आसपास सोतीं। बिस्तरों के बीच तीन फीट का अन्तर रहता था। सोने के क्रम में भी सावधानी जरूर रक्खी गई थी। पर

दोषित मन के नजदीक वह सावधानी क्या चीज थी ? अब तो मैं देखता हूं कि इन बालक-बालिकाओं के मामले में परमात्मा ने ही लाज रक्खी। मेरी यह धारणा थी कि बालक-बालिकायें इस तरह निर्दोष भाव से हिलमिल कर रह सकते हैं। यह प्रयोग मैंने इसी भाव से किया था और माता पिताओं ने भी मुझपर असीम विश्वास डाल कर यह प्रयोग करने दिया।

एक दिन इन्हीं बालिकाओं ने या किसी बालक ने मुझे खबर दी कि एक युवक ने उन दो बालाओं से कुछ छेड़-छाड़ की। मैं कांप गया! तलाश किया, बात सच्ची थी। युवक को समझाया। पर यह काफी न था। मैंने यह चाहा कि इन बालाओं के शरीर पर कोई ऐसा ही चिन्ह हो, जिसे हरएक युवक समझ सके और जान जाय कि इन बालाओं की ओर कदापि कुदृष्टि से नहीं देखना चाहिए। बालिकाएँ भी समझलें कि उनकी पवित्रतापर कदापि कोई हाथ नहीं डाल सकता। सीता को विकारी रावण स्पर्श नहीं कर सका। यद्यपि राम तो दूर थे। ऐसा कौनसा चिन्ह मैं उन बालिकाओं को दे सकता था, जिससे वे अपने को सुरक्षित समझने लगजाएं, और दूसरे उन्हें देखकर निर्विकार रहें। रात भर जागा। सुबह बालिकाओं को समझाया। बिना किसी तरह चौंकने देते हुए मैंने उन्हें समझाया कि वे मुझे अपने सुंदर काले लम्बे केश काट डालने की इजाजत दें। फार्म पर हम आपस में ही एक दूसरे के बाल बना लिया करते थे। इसलिए बाल काटने की मशीन हमारे पास रहती थी। पहले तो वे समझ ही नहीं सकीं। बड़ी स्त्रियों को पहले ही समझा रक्खा था। मेरी सूचना को तो वे नहीं सह सकीं, पर मेरे हेतु को वे जरूर समझ सकी थीं। इसलिए उनकी भी मुझे

मदद थी। लड़कियां भव्य थीं। शिवं शिव, पर आज उनमें से एक चलबसी है। वह तेजस्विनी थी। दूसरी जिंदा है। वह अपनी गृहस्थी चला रही है। अंत में वे दोनों समझ गईं। उसी क्षण इन हाथों ने, उस प्रसंग को इस समय चित्रित करने वाले इन्हीं हाथों ने उनके बालों पर कैंची चला दी। बाद में वर्ग में इस कार्य का विश्लेषण कर सब को समझा दिया गया। परिणाम सुंदर निपजा। फिर से कहीं बदमाशी की बात तक मेरे कानों पर नहीं आई। इन बालाओं का तो कुछ भी नहीं बिगड़ा। इससे उन्हें फायदा किस हद तक हुआ यह तो परमात्मा ही जाने। मैं तो आशा करता हूं कि वे युवक आज भी उस प्रसंग की याद कर करके अपनी दृष्टि को शुद्ध रखते होंगे।

ऐसे प्रयोग अनुकरण के लिए नहीं लिखे जाते। यदि कोई शिक्षक ऐसे प्रयोगों का अनुकरण करेगा तो जरूर ही वह बहुत भारी जोखिम अपने सिर पर लेगा। इस प्रयोग का उल्लेख तो केवल यह बताने के लिए किया गया है कि मनुष्य एक खास मार्ग पर कितनी दूर तक जा सकता है। साथ ही सत्याग्रह के युद्ध की शुद्धता भी इससे सूचित हो सकती है। इस चरम विशुद्धि ही में उसकी अंतिम विजय की रहस्य छिपी हुई थी। ऐसे प्रयोगों के लिए तो शिक्षक को माता और पिता दोनों खुद ही बन जाना चाहिए। तर्क को एक तरफ रख कर ही ऐसे प्रयोग किये जा सकते हैं। पर इसके लिए बड़ी ही कठिन तपश्चर्या की जरूरत है।

इस कार्य का असर तमाम फार्मवासियों की रहन सहन पर पड़ा। कम से कम खर्च में गुजर करना हमारा हेतु था; इसलिए पोशाक में फर्क करना पड़ा। शहरों में पुरुषों की पोशाक साधारण-

तया यूरोपियन ढंग की ही थी। सत्याग्रहियों तक का यही हाल था। फार्म पर इतने कपड़ों की आवश्यकता नहीं थी। हम तो सब मजदूर बन गये थे। इसलिये पोशाक भी मजदूर ही की सी, पर यूरोपियन ढंग की रक्खी गई। मजदूर की सी पतलून और उन्हीं की सी एक क़मीज़। इसमें जेल का अनुकरण किया गया था। मोटे आस्मानी रंग के कपड़े की सस्ती पतलूनें और कमीज़ें बाज़ार में बिकती थीं। हम सब उन्हींको पहनते थे। स्त्रियों में से कई सीने-पिरोने का काम। अच्छी तरह कर सकती थीं। अतः तमाम सीने का काम वे ही करने लग गईं।

भोजन में चावल, दाल, तरकारी, और कभी खीर। बस, यही सामान्यतः नियम था। यह सब एक ही पात्र में परोसा जाता था। भोजन के लिए थाली के बदले जेल में मिलती है उस तर्ज़ की एक तश्तरी रक्खी जाती थी। चम्मच लकड़ी के रहते, जिन्हें हमने खुद अपने हाथों से बना लिया था। भोजन दिन में तीन बार होता था। सुबह छः बजे गेहूँ की रोटी और काफी, ग्यारह बजे दाल, भात तथा साग, और शाम को साढ़े पाँच बजे ज्वारी का दलिया और दूध अथवा रोटी और फिर गेहूँ की कॉफी। रात के नौ बजते ही सब सोने को चले जाते। भोजन के बाद शाम के सात-साढ़े सात बजे प्रार्थना होती। प्रार्थना में भजन होते और कभी कभी रामायण तथा इस्लामी धर्म ग्रन्थों से कुछ पढ़ा जाता था। भजन अंगरेजी, गुजराती, और हिन्दी भी होते। कभी कभी तीनों भाषा के, और कभी कभी किसी एक ही भाषा के।

फार्म पर कई लोग एकादशी व्रत करते थे। भाई कोतवाल भी वहाँ पहुँचे। उन्हें लङ्घन वगैरह का अच्छा अभ्यास था।

उनको देख कर कई लोगों ने चातुर्मास व्रत किया। इन्हीं दिनों रोज़े भी आते थे। हम लोगों में मुसलमान युवक भी थे। उन्हें रोज़े रखने के लिए उत्साहित करना हमें अपना धर्म प्रतीत हुआ। उन के लिए प्रातःकाल तथा रात के भोजन की व्यवस्था भी कर दी गई। रात को खीर आदि भी बनाये जाते। मांसाहार तो था ही नहीं और न किसी ने माँगा ही था। उनके प्रति सम्मान जाहिर करने के लिए हम भी एक बार भोजन अर्थात् प्रदोष करते। साधारणतया हम लोग सूर्यास्त से पहले पहल भोजन कर लिया करते। मुसलमान लड़के थोड़े ही थे, इसलिए दूसरे सब सूर्यास्त से पहले खाना खा कर तैयार हो जाते। बस इतना ही अन्तर पड़ता था। मुसलमान नवयुवकों ने भी अपने रोज़े के दिनों में बड़ी विनयशीलता दिखाई, जिससे किसी को भी अधिक कष्ट नहीं होने दिया। गैर मुसलिम बालकों ने इस समय में उनका साथ दिया, इसका असर भी बड़ा अच्छा हुआ। मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं, जब हिन्दू और मुसलमान बालकों में झगड़ा हुआ हो। बल्कि इसके विपरीत मैं तो जानता हूँ कि सभी अपने अपने धर्म पर दृढ़ रहते हुए भी एक दूसरे के साथ बड़ी शिष्टता का व्यवहार करते थे। एक दूसरे की धार्मिक क्रियाओं में सहायता करते थे।

हम लोग इतनी दूर रहते थे। तथापि बीमारी वगैरा के लिए जो मामूली सुविधाएँ रक्खी जाती हैं, उनमें से एक भी नहीं रक्खी गई थी। उस समय मुझे बालकों की निर्दोषिता के विषय में जो श्रद्धा थी, वही बीमारी के अवसर पर कुदरती उपायों के अवलम्बन पर भी थी। सादे जीवन में बीमारी हो ही कैसे सकती है। अगर

ने समझ रक्खा कि दुःख और कष्ट उठाने के लिए केवल आप ही पैदा हुए हैं, और मुझ जैसे आपको केवल कष्ट देने के लिए। लो भुगतो अब अपनी 'अति' की सजा। मैं तुम्हें अपने शरीर को स्पर्श तक नहीं करने दूंगा। आप सब लोग तो नित्य-क्रिया के लिए मैदान में जावेंगे और मेरे लिए कमोड रख छोड़ा है, क्यों? खैर, परवा नहीं आज तो मैं जरूर आपका गर्व दूर करूंगा, चाहे इसके लिए कितना ही कष्ट हो"। ये बचन तो वज्र के समान थे। कैलनबेक और मैं दोनों सुस्त हो गये। पर उनके चेहरे पर कुछ कुछ हँसी भी थी, बस यही हमें आश्वासन दे रही थी। अर्जुन ने अज्ञानवश श्रीकृष्ण को कितना ही कष्ट क्यों न दिया हो, पर क्या यह सब श्रीकृष्ण ने याद रक्खा होगा? गोखलेजी ने तो केवल सेवा को ही याद रक्खा। और खूबी यह कि सेवा तो करने भी न दी। मोंवासा से लिखा हुआ उनका वह प्रेम भरा पत्र मेरे हृदय में अंकित है। उन्होंने आप कष्ट उठा लिया, पर हम उनकी जो सेवा कर सकते थे, वह भी उन्होंने नहीं करने दी। हमारा बनाया भोजन तो खैर खाना ही पड़ा? नहीं तो और करते ही क्या?

दूसरे दिन सुबह न तो उन्होंने खुद ही आराम लिया न हमें लेने दिया। उनके भाषणों को, जिन्हें हम पुस्तक रूप में छपाने वाले थे, उन्होंने दुरुस्त किया। उन्हें कुछ भी लिखना होता तो पहले वे यहां से वहाँ तक टहलते टहलते विचार कर लेते। उन्हें एक छोटासा पत्र लिखना था। मेरा ख्याल था कि वे फौरन लिख डालेंगे, पर नहीं। मैंने टीका की, इसलिए मुझे व्याख्यान सुनना पड़ा। "मेरा जीवन तुम क्या जानो? मैं छोटी से छोटी बात में भी जल्दी नहीं करता। उस पर विचार करता हूँ, उसके मध्यबिन्दु पर ध्यान देता

विषयोचित भाषा गढ़ता हूँ, और फिर कहीं लिखता हूँ। इस
रह यदि सभी करें तो कितना समय बच जाय, और समाज का
तना लाभ हो ? आज समाज को जो इन अपरिपक्व विचारों के
रण हानि उठानी पड़ती है उससे वह बच जाय। "

जिस तरह गोखलेजी के आगमन के वर्णन रहित टॉल्स्टॉय
र्म के संस्मरण अधूरे माने जावेंगे, उसी प्रकार यदि मि० कैलन-
क की रहन सहन का वर्णन भी न दिया जाय, तो वे अधूरे ही
जावेंगे। इस निर्मल पुरुष का परिचय मैं पहले दे चुका हूँ।
० कैलनबेक का टॉल्स्टॉय फार्म पर और सो भी हमारे जैसा
ना एक आश्चर्यकारक वस्तु थी। गोखले सामान्य बातों से
कर्षित होने वाले पुरुष नहीं थे। पर कैलनबेक के जीवन में यह
हान् परिवर्तन देखकर वे भी अत्यंत आश्चर्य-चकित हो गये थे।
० कैलनबेक ने कभी धूप जाड़ा नहीं सहा था, न किसी प्रकार
ो मुसीबत पहले उठाई थी। अर्थात् स्वच्छन्द जीवन को उन्होंने
पना धर्म बना लिया था। संसार के आनन्दों का उपभोग लेने में
न्होंने किसी प्रकार की बाकी नहीं रहने दी थी। धन से जितनी
ो चीजें खरीदी जा सकती हैं उन सबको प्राप्त करने के लिए
न्होंने कभी कुछ उठा नहीं रक्खा था।

ऐसे पुरुष का फार्म पर रहना, वहीं खाना पीना, फार्म-वासियों
जीवन के साथ अपने को पूर्णतया मिला देना, कोई ऐसी वैसी
त नहीं थी। भारतीयों को इस बात पर बड़ा आश्चर्य और
ानन्द भी हुआ। कितने ही गोरों ने तो उन्हें मूर्ख या पागल
ी समझ लिया, कितनों ही के दिलों में उनकी त्याग-शक्ति के
ारण उनके प्रति आदर बढ़ गया। कैलनबेक ने अपने त्याग

मि० कैलनबेक मेरी दलील को समझ गये। पर उनको यह इच्छा नहीं हुई कि अजगर को जल्दी छोड दें। मैंने किसी प्रकार का दबाव तो डाला ही नहीं। सर्प के बर्ताव में मैं भी दिलचस्पी ले रहा था। बच्चों को तो खूब आनंद हो रहा था। सबसे कह दिया गया था कि उसे कोई सतावे नहीं। पर वह कैदी स्वयं ही अपनी राह ढूंढ रहा था। पींजडे का दरवाजा खुला रह गया या शायद उसीने उसे किसी तरह खोल लिया—परमात्मा जानें क्या हुआ—दो चार दिन के अंदर ही, एक दिन सुबह–जब मि० कैलनबेक अपने कैदी को देखने के लिए गये, तो उन्होंने पींजडे को खाली पाया। वे और मैं भी खुश हो गया। पर इस प्रयोग के कारण हमेशा के लिए सर्प हमारी बात चीत का विषय हो गया। मि० कैलनबेक एक गरीब जर्मन को हमारे फार्म पर लाये थे। वह गरीब भी था और पंगु भी। उसकी जांघ इतनी टेढी हो गई थी कि वह बिना लकडी के चल ही नहीं सकता था। पर वह बड़ा हिम्मतवर था। शिक्षित भी था, इसलिए सूक्ष्म बातों में भी बड़ी दिलचस्पी बताता। फार्म पर वह भी भारतीयों का साथी बनकर सब से हिलमिल कर रहता था। उसने तो निर्भयता पूर्वक सर्पों के साथ खेलना तक शुरू कर दिया। छोटे छोटे सर्पों को वह अपने हाथ में ले आता और अपनी हथेली पर उन्हें खेलाता था। कौन कह सकता है कि यदि फार्म अधिक दिन तक चला होता तो इस जर्मन के प्रयोग का क्या परिणाम होता। इसका नाम आल्बर्ट था।

इस प्रयोग के कारण यद्यपि सांप का डर तो कम हो गया था तथापि कोई यह न समझ ले कि फार्म के अंदर किसी को सांप

का भय ही नहीं रहा अथवा सांप को मारने की सब को मनाई थी। हिंसा-अहिंसा और पाप का ज्ञान प्राप्त कर लेना एक बात है और उसके अनुसार आचरण करना दूसरी बात। जिसके दिल में सांप का डर है, और जो प्राण-त्याग करने के लिए तैयार नहीं है, वह संकट-समय में सांप को कभी नहीं छोड़ेगा। मुझे याद है कि ऐसा ही एक किस्सा फार्म पर हुआ था। पाठकों ने यह तो स्वयं ही अंदाज से जान लिया होगा कि फार्म पर सर्पों का उपद्रव खूब रहा होगा। क्योंकि हम लोग वहां गये उससे पहले वहां कोई बस्ती नहीं थी। बल्कि कितने ही समय से वह निर्जन ही था। एक दिन मि० कैलनबेक के कमरे में अचानक ऐसी जगह एक सांप दिखा, जहां से उसे भगाना या पकड़ना भी करीब करीब असम्भव था। पहले पहल फार्म के एक विद्यार्थी ने उसे देखा। उसने मुझे बुलाया और पूछा—कि अब क्या करना चाहिए? उसे मारने की आज्ञा भी उसने चाही। वह बिना इजाजत भी सांप को मार सकता था, परन्तु साधारणतया क्या विद्यार्थी और क्या दूसरे मुझे बिना पूछे ऐसी कोई बात नहीं करते थे। इस सांप को मारने की इजाजत देना मैंने अपना धर्म समझा और आज्ञा दे भी दी। यह लिखते समय भी मुझे यह नहीं मालूम होता कि मैंने वह आज्ञा देने में कोई गलती की। सांप को हाथ में पकड़ने इतनी अथवा अन्य किसी प्रकार से फार्म वासियों को निर्भय कर देने इतनी शक्ति न तो मुझ में तब थी और न आज तक उसे प्राप्त कर सका हूं।

पाठक यह तो आसानी से जान सकते हैं, कि फार्म पर सत्याग्रहियों के दल आते रहते थे! कैद होने के लिए जाने

वाले तथा कैद से छूटकर आने वाले सत्याग्रही इन दो में से कोई न कोई तो वहां जरूर ही बने रहते। उनमें दो कैदी ऐसे वहां आ पहुंचे जिन्हें मॅजिस्ट्रेट ने उनके अपने मुचलके पर ही छोड दिया था और जिन्हें दूसरे दिन सजा सुनने के लिए जाना था। बात चीत हो रही थी। बात बात में इतना समय हो गया कि आखिरी ट्रेन का वक्त भी आ पहुंचा। यह निश्चय नहीं था कि ट्रेन मिल ही जायगी। दोनों जवान कसरती थे, वे दोनों और हम में से कितने ही ताकतवर लोग दौड़े। रास्ते ही में ट्रेन के आने की सीटी मैंने सुनी। हम स्टेशन के बाहर तक पहुंचे कि गाड़ी के छूटने की सीटी हुई। वे दोनों भाई तो एक सा दौड़ते चले जा रहे थे। मैं पीछे रह गया। ट्रेन खुल गई। इन दोनों को दौड़ते देख कर स्टेशन मास्टर ने चलती ट्रेन को रोक दिया, और उन दोनों को बैठा दिया। जब मैं पहुंचा तो मैंने अहसान-मंदी जाहिर की।

यह वर्णन करते हुए मैं दो बातें दिखा गया हूं। एक तो सत्याग्रहियों की अपनी प्रतिज्ञा पालन करने तथा जेल जाने की उत्कट उत्सुकता और दूसरे, सत्याग्रहियों और स्थानीय अधिकारियों के बीच जो मधुर-सम्बन्ध स्थापित हो गया था। वह अगर वे दोनों युवक ट्रेन नहीं पकड़ सकते तो वे दूसरे दिन अदालत में हाजिर भी नहीं हो सकते। उनका जामीन दूसरा कोई था ही नहीं। और न इनसे कहीं रुपये ही लिये गये थे। उन्हें तो केवल उनकी भलमनसाही पर ही छोडा गया था। वहां पर सत्याग्रहियों की साख इतनी जम गई थी कि जेल जाने के लिए सदा उत्सुक रहने के कारण अदालत के अधिकारीगण भी उनसे कभी जामीन

लेना आवश्यक नहीं समझते थे। इसलिए उन युवकों को ट्रेन चूकने का बड़ा भारी डर था। और इसलिए वे तीर की तरह छूटे थे। हां इस सत्याग्रह के आरंभ में अधिकारियों की तरफ से सत्याग्रहियों को जरूर कुछ कष्ट हुआ था। कहीं कहीं तो जेल के अधिकारी अत्यन्त कठोरता पूर्ण व्यवहार भी करते थे। पर ज्यों ज्यों युद्ध आगे बढता गया त्यों त्यों मैंने देखा कि वे नरम होते गये, और कितने ही अधिकारी तो नितान्त मधुरतापूर्ण व्यवहार करने लग गये। और जहां जहां उनके साथ अधिक समय तक मेल-मिलाप का सम्बन्ध या प्रसंग पडता, वहां वहां तो उस भले स्टेशन मास्टर की तरह वे सहायता तक करने लग गये। पाठक यह न समझ लें कि सत्याग्रही लोग अधिकारियों को रिश्वत देकर अपने अनूकूल कर लिया करते होंगे। वहां तो अनुचित मार्ग के अवलम्बन द्वारा सुविधायें प्राप्त करने का ख्याल तक नहीं किया जाता था। पर ऐसा कौन होगा जिसे शिष्ट-सम्मत सुविधायें प्राप्त करने की इच्छा भी न हो? बस इसी प्रकार की सुविधा अनेक स्थानों पर सत्याग्रही प्राप्तकर सकते थे। यदि स्टेशन मास्टर उलटा आदमी होता तो नियम-भंग न करते हुए भी हमें अनेक प्रकार से सता सकता था, और ऐसे व्यवहार के खिलाफ कोई शिकायत भी नहीं की जा सकती थी। पर इसके विपरीत यदि वह भला आदमी होता तो नियमों का बिना किसी प्रकार उल्लंघन किये हमें अनेक प्रकार से सहायता भी पहुंचा सकता था। और इसी तरह की सुविधायें इस फार्म के नजदीक वाले स्टेशन के स्टेशन-मास्टर से हम प्राप्त कर सके थे। पर इसका कारण तो था सत्याग्रहियों का विवेक, उनका धैर्य अनेक कष्ट सहने की क्षमता रखनेवाली उनकी सहन शक्ति।

यदि एक अप्रस्तुत प्रसंग का भी यहाँ उल्लेख कर दूं तो अनुचित न होगा। लग भग ३५ वर्ष से मुझे भोजन में सुधार और अन्य धार्मिक आर्थिक तथा आरोग्य विषयक प्रयोग करने का शौक है। वह अभीतक ज्यों का त्यों है, ज़रा भी मंद नहीं हुआ। इन प्रयोगों का प्रभाव मेरे आस पास रहने वालों पर तो जरूर ही पड़ता। इन प्रयोगों के साथ साथ बिना किसी प्रकार की औषधि की सहायता के केवल प्राकृतिक-मसलन पानी, मिट्टी आदि उपचारों द्वारा रोगों के इलाज के प्रयोग भी मैं करता था। मैं वकालत करता था उस समय मवक्किलों के साथ मेरा बिलकुल घर के जैसा सम्बन्ध हो जाता। इसलिए वे मुझे अपने सुख-दुःखों में भी भागीदार बनाते। आरोग्य विषयक मेरे कितने ही प्रयोगों से वे परिचित भी थे। इसलिए वे अक्सर उस विषय में मेरी सहायता लेते।

टॉल्स्टॉय फार्म पर भी ऐसी सहायता के इच्छुक कभी कभी चले आते। इनमें उत्तर हिंदुस्तान से गिरमिट में आया हुआ लुटावन नामक एक बूढ़ा मवक्किल भी था। अवस्था ७० वर्ष से भी अधिक होगी। उसे बड़ी पुरानी दमे और खांसी की व्याधि थी। अनेकों वैद्यों के काथ-पुड़ियों और कई डॉक्टरों की बोतलों को वह आजमा चुका था। उस समय मुझे अपने इन उपचारों में असीम विश्वास था। मैंने उसे कहा कि यदि तुम मेरी तमाम शर्तों का पालन करो और फार्म ही पर रहो। तो मैं अपने उपचारों का प्रयोग तुम पर कर सकूँगा। उसका इलाज करने की बात तो मैं कैसे कह सकता था? उसने मेरी शर्तों को कबूल किया। लुटावन को तमाखु का बहुत भारी व्यसन था। मेरी शर्तों में एक यह भी थी कि वह तमाखू छोड़ दे। लुटावन को एक दिन का उपास कराया।

प्रति दिन बारह बजे धूप में 'क्यूनी बाथ' देना शुरु किया। उस समय की ऋतु भी धूप में बैठने लायक थी। उसे थोड़ा भात, कुछ ऑलिव ऑइल (जैतून का तेल) शहद और कभी कभी शहद के साथ साथ खीर, मीठी नारंगी, अंगूर और भूंजे हुए गेहूं की कॉफी आदि भोजन के लिए दिया जाता था। नमक और तमाम मसाले बंद कर दिये गये थे। जिस मकान में मैं सोता था उसी मकान में जरा अन्दर की तरफ, लुटावन का भी बिस्तर लगा दिया जाता था। सब के बिस्तर में दो कम्बल रहते थे, एक बिछाने का और एक ओढने का। लकड़ी का तकिया भी रहता था।

एक सप्ताह बीता, लुटावन के शरीर में तेज प्रवेश करने लगा, दमा कम हुआ, खाँसी भी घट गई। पर रात को दमा और खाँसी दोनों सताते। मुझे तमाखु का शक हुआ। मैंने उसे पूछा। लुटावन ने कहा 'मैं नहीं पीता'। फिर एक दो दिन गये। पर खाँसी में कोई फर्क नहीं हुआ। अब छिपकर लुटावन पर नजर रखने का निश्चय किया। सब जमीन पर ही सोते थे। सर्पादि का भय तो था ही। इसलिए मि० कैलनबेक ने मुझे बिजली की एक जेबी बत्ती दे रक्खी थी। वे भी एक रखते थे। इस बत्ती को लेकर मैं सोता था। मैंने निश्चय किया कि एक रात बिस्तर ही में पड़े पड़े जागूँ। दरवाजे से बाहर बरामदे में मेरा बिस्तर लगा हुआ था, और दरवाजे के अंदर नजदीक ही लुटावन लेट रहा था। करीब आधीरात के लुटावन को खांसी आई। दीया सलाई सुलगा कर उसने बीड़ी पीना शुरु किया। मैं भी धीरे से चुप चाप उसके बिस्तर के पास जा खड़ा हुआ और बत्ती की कल को दबाया। लुटावन घबडाया! वह समझ गया। बीड़ी

बुझा कर उठ खड़ा हुआ। और मेरे पैर पकड़ कर बोला 'मैंने बड़ा गुन्हा किया, अब मैं कभी तमाखू नहीं पीऊंगा। आपको मैंने धोखा दिया। मुझे आप माफ करें" यह कह कर वह गिड़ गिड़ाने लगा। मैंने उसे आश्वासन पूर्वक कहा कि बीड़ी छोड़ने में उसी का हित था। मेरे अनुमान के अनुसार खांसी जरूर मिट जानी चाहिए थी। वह मिटी नहीं इसलिए मुझे शक हुआ। लुटावन की बीड़ी छूटी और उसके साथ ही साथ दो तीन दिन में दमा और खांसी की शिकायत भी कम हो गई। इसके बाद एक मास में लुटावन बिलकुल नीरोग हो गया। उसके चेहरे पर खूब रौनक आ गई और वह बिदा होने के लिए तैयार हुआ।

स्टेशन मास्तर का लड़का, जो दो साल का था, टॉइफाइड (विषम ज्वर) से पीडित था। स्टेशन मास्टर जानते थे कि मैं इस तरह उपचार करता हूँ। उन्होंने मेरी सलाह चाही। उस बच्चे को पहले दिन तो मैंने खाने के लिए कुछ भी नहीं दिया। दूसरे दिन से खूब मसला हुआ आधा केला ले कर उसमें एक चम्मच ऑलिव ऑइल और नींबू के रस के कुछ बूंद डाल कर देना शुरू किया। बस, और सब खुराक बंद कर दिया। हाँ, रात को इस बालक के पेट पर मिट्टी की पट्टियां बांधी जाती थीं। उसे भी आराम हो गया। सम्भव है, डा० का निदान गलत हो, और वह विषम ज्वर न भी हो।

इस तरह के अनेकों प्रयोग मैंने फार्म पर किये। और जहां तक मुझे याद है, उनमें से एक भी निष्फल नहीं हुआ। पर आज उन्हीं उपचारों को आजमाने की हिम्मत मुझमें नहीं है। अब तो विषमज्वर से पीडित रोगी को केला और ऑलिव ऑइल मुझ से

नहीं दिया जाय। हाथ पाँव ही काँपने लग जावें। १९१८ में भारतवर्ष में मुझे अतिसार की बीमारी हो गई थी। परन्तु मैं उसका इलाज नहीं कर सका। मैं नहीं कह सकता कि इसका कारण क्या होगा? पता नहीं कि जो उपचार आफ्रिका में सफल हुए, वे यहां उसी परिमाण में सफल नहीं होते इसका कारण मेरे आत्मविश्वास की न्यूनता है या वे (उपचार ही) यहां के जल-वायु को अनुकूल नहीं होते। पर मैं यह जरूर कह सकता हूं कि इन घरेलू उपचारों की बदौलत तथा टॉल्स्टॉय फार्म में अख्तियार की गई सादगी के कारण, अधिक नहीं तो कम से कम २।३ लाख रुपये की बचत तो कौम को अवश्य हुई होगी। अलावा इसके रहने वालों में कौटुम्बिक भावना उत्पन्न हो गई, सत्याग्रहियों को शुद्ध आश्रय स्थान मिला, अप्रामाणिकता और दम्भ को कहीं मौका नहीं मिला। मूंग और कंकड अलग अलग हो गये।

उपर्युक्त कहानियों में बताये खुराक के प्रयोग केवल आरोग्य की दृष्टि से किये गये। पर इस फार्म पर रहते हुए। मैंने केवल आध्यात्मिक दृष्टि से खुद अपने ऊपर एक महत्वपूर्ण प्रयोग भी किया था।

इस बात पर तो मैंने बहुत विचार किया है और उपलब्ध साहित्य भी पढ़ा है कि निरामिष भोजन करने वाले की हैसियत से हमें दूध का उपयोग करना चाहिए या नहीं, और यदि हाँ, तो कितना किया जाय। इस फार्म पर रहते हुए मेरे हाथों में एक किताब या अखबार आया, जिसमें मैंने पढ़ा कि कलकत्ता में गाय भैंसों का दूध बिलकुल निचोड कर निकाला जाता है। इस लेख में फूंकने की (पंप करने की) अमानुष और भयानक क्रिया का भी

वर्णन था। एक दिन मि० कैलनबेक के साथ इसी विषय में दूध पीने की आवश्यकता पर बात-चीत हो रही थी। उसमें मैंने इस क्रिया की बात भी उनसे कही। दूध के त्याग से होने वाले अन्य कितने ही आध्यात्मिक लाभ भी मैंने उन्हें बताये और यह भी कहा कि अच्छा हो यदि हम लोग दूध का भी त्याग कर सकें। मि० कैलनबेक अत्यन्त साहसी थे। अतएव वे दूध छोड़ने का प्रयोग करने को भी एकदम तैयार हो गये। उन्हें मेरी बात बड़ी पसंद हुई। उसी दिन से हम दोनों ने दूध छोड़ दिया। अन्त में हम दोनों केवल सूखे और गीले फलों पर ही अपनी आजीविका चलाने लगे। आग का पकाया हुआ अन्न भी बन्द कर दिया। इस प्रयोग के परिणाम का इतिहास मैं यहां पर नहीं दे सकता। पर इतना तो मैं जरूर कहूंगा कि पांच साल तक केवल फलाहार पर ही रहने से न तो मुझे कभी कमजोरी मालूम हुई और न किसी प्रकार की व्याधि। इतना ही नहीं, बल्कि उन दिनों शारीरिक काम करने की मुझ में सम्पूर्ण शक्ति थी; यहां तक कि एक दिन के अन्दर मैं पैदल ही पैदल ५५ मील की सफर कर सका था। ४० मील की सफर तो मेरे लिए एक मामूली सी बात थी। मुझे यह भी दृढ़ विश्वास है कि इस प्रयोग का आध्यात्मिक परिणाम भी बड़ा सुंदर हुआ था। और इस प्रयोग का कुछ अंशों में मुझे त्याग करना पड़ा है इस बात पर मुझे बराबर दुःख होता रहता है। आज भी यदि मैं इन राजनैतिक व्यवसायों से, जिनमें मैं बहुत ही फँस-गया हूं, किसी प्रकार मुक्त हो जाऊं, तो इसके आध्यात्मिक परिणामों को जाँचने के लिए इस उम्र में शरीर की जोखिम उठा कर भी, मैं उस प्रयोग को फिर से शुरु करदूं। मेरा तो ख्याल है कि डाक्टरों

और वैद्यों में अध्यात्मिक दृष्टि का अभाव भी मेरे मार्ग में हमारे लिए एक महान् विघ्न है।

पर अब तो इन मधुर किन्तु आवश्यक संस्मरणों को समाप्त कर देना चाहिए। इतने सख्त प्रयोग आत्मशुद्धि के युद्ध के कारण ही हो सकते हैं। टॉल्स्टॉय फार्म अंतिम युद्ध के लिए एक तपश्चर्या और आत्मिक शुद्धि का स्थान साबित हुआ। इस बात में मुझे पूरा संदेह है कि यदि हमें ऐसा स्थान न मिलता या हम उसे न प्राप्त कर सकते तो आठ वर्ष तक युद्ध चल भी सकता या नहीं, हमें इतना अधिक धन भी मिलता या नहीं, और साथ ही आगे चलकर जिन हजारों मनुष्यों ने उसमें भाग लिया वे ले सकते या नहीं। यह बात हमारे नियम और उद्देश के विपरीत थी कि टॉल्स्टॉय फार्म का ढोल पीट कर प्रचार किया जाय। तथापि जो वस्तु दया के पात्र नहीं थी, उसने लोगों के दया-भाव को जागृत किया और लोगों ने समझा कि वे खुद जिन बातों को करने के लिए तैयार नहीं थे, अथवा जिन्हें वे दुःखद मानते थे उन्हीं बातों को फार्मवासी कर रहे थे। उनका यह विश्वास उस महान् युद्ध के लिए मूल धन बन गया जो १९१३ में विराट रूप में संचालित किया गया था। इस मूल धन के बदले का हिसाब ही नहीं लगाया जा सकता। यह भी कोई नहीं कह सकता कि वह कब मिलता है। पर मुझे तो इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि वह मिलता जरूर है, कोई इसमें सन्देह न करे।

बारहवां अध्याय

श्री गोखले का प्रवास

इस टॉल्स्टॉय फार्म पर सत्याग्रही अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहे थे और अज्ञात भावी में उनके लिए जो कुछ भी रचा जा रहा था उसके लिए तैयार हो रहे थे। न तो उन्हें इस बात की कोई खबर थी और न कोई चिन्ता ही थी कि लड़ाई कब खतम होगी? उनकी तो केवल यही एक प्रतिज्ञा थी कि उस खूनी कानून के सामने कभी सिर न भुकावेंगे। इसमें जो कुछ दुःख कठिनाइयां आवेंगी सब को सहलेंगे। एक सिपाही के लिए तो स्वयं युद्ध ही जीत है। क्योंकि वह उसीमें सुख मानता है। और चूंकि लड़ना न लड़ना उसीके अपने अधीन होता है हार-जीत तथा अपने सुख दुःख का भार भी उसी पर होता है। या यों कहिए कि दुःख और पराजय जैसे शब्द उसके शब्द-कोष ही में नहीं होते। गीता के शब्दों में कहें तो सुख-दुःख, हार-जीत उसके लिए समान ही है।

इस बीच यों ही इक्के दुक्के सत्याग्रही जेल को जाते रहते थे। और जब यह प्रसंग भी नहीं आता था तब फार्म की बाहरी प्रवृत्ति को देखते हुए कोई यह नहीं मान सकता था कि यहां सत्याग्रही रहते हैं, या वे लड़ाई की तैयारी कर रहे हैं। तथापि यदि

कोई नास्तिक मित्र उधर आ निकलता तो वह, हमपर दया दिखाता और यदि वह टीकाकार होता तो हमारी निन्दा करता। "काहिल हैं, और क्या? तभी तो जँगल में पड़े पड़े खुराक घटा रहे हैं। जेल से हार गये इसीलिए तो फलों के सुन्दर बाग में रह कर आराम से नियमित जीवन बिता रहे हैं,—शहर के झंझटों से दूर भागकर सुखोपभोग कर रहे हैं" इस तरह के टीकाकार को कोई यह किस तरह समझा सकता है कि सत्याग्रही अनुचित रीति से—नीति का भंग करके जेल जाना कभी ठीक नहीं समझता। भला उसे यह भी कौन समझावे कि सत्याग्रही की शांति और संयम में ही युद्ध की तैयारी है। यह भी उसे कौन कहे कि सत्याग्रही मनुष्य की सहायता का विचार तक छोड़ देता है, वह तो केवल परमात्मा पर विश्वास रखता है। किन्तु अंत में ऐसे संयोग आ जुटे जिनकी हमें कल्पना भी नहीं थी। अथवा यों कहें कि वह परमात्मा ही की माया थी। सहायता भी अकल्पित रीति से आ पहुंची। कसौटी का मौका भी ऐसा बढ़िया आ गया, जिसका किसी को ख्याल तक न था। फलतः अंत में हमें बाह्य विजय भी ऐसी मिली जिसको संसार समझ सका।

गोखलेजी तथा अन्य नेताओं से मैं प्रार्थना कर रहा था कि वे दक्षिण अफ्रिका आकर यहां के भारतीयों की स्थिति का अध्ययन करें। पर इस बात में पूरा पूरा सन्देह था कि कोई आवेगा भी या नहीं। मि० रिच भी किसी नेता को भेजने की कोशिश कर रहे थे। पर ऐसे समय वहां आने की हिम्मत कौन कर सकता था जब लड़ाई बिलकुल मंद हो गई हो? सन् १८११ में गोखले इंग्लैंड में थे, दक्षिण आफ्रिका के युद्ध का

अध्ययन तो उन्होंने अवश्य ही कर लिया था। वल्कि धारासभाओं में चर्चा भी की थी। गिरमिटियाओं को नाताल भेजना वंद करने का प्रस्ताव उन्होंने धारासभा में पेश किया था, जो स्वीकृत भी हो गया था। उनके साथ मेरा पत्र-व्यवहार वरावर जारी था। भारत-सचिव के साथ वे इस विषय में कुछ मशविरा कर रहे थे, और उन्होंने दक्षिण आफ्रिका जा कर उस प्रश्न का ठीक ठीक अध्ययन करने की इच्छा भी प्रकट की थी। भारत सचिव ने उनके उस विचार को पसन्द भी किया था। गोखलेजी ने छः सप्ताह के प्रवास की योजना और कार्यक्रम वनाने लिए मुझे लिख भेजा और साथ ही वह अंतिम तारीख भी लिख भेजी, जब वे दक्षिण, आफ्रिका से विदा होना चाहते थे। उनके शुभागमन की वार्ता पढ़कर हमें तो इतना आनंद हुआ कि जिसकी हद नहीं। आजतक किसी नेता ने दक्षिण आफ्रिका की सफर नहीं की थी। दक्षिण आफ्रिका की तो ठीक पर प्रवासी भारतवासियों की दशा का अवलोकन और ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से भी किसी विदेशी रियासत की सफर तक नहीं की थी। इसलिए गोखले जैसे महान् नेता के शुभागमन के महत्व को हम सव पूरी तरह समझ गये। हमने यह निश्चय किया कि गोखलेजी का ऐसा स्वागत-सन्मान किया जाय जैसा अव तक वादशाह का भी न हुआ। यह भी तय हुआ कि उन्हें दक्षिण आफ्रिका के मुख्य मुख्य शहरों में भी ले जाना चाहिए। सत्याग्रही और दूसरे भी उनके स्वागत की तैयारियों में वड़े उत्साह पूर्वक काम करने लगे। गोरों को भी इस स्वागत में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया गया था, और लग भग सभी जगह वे शामिल भी हुए थे। यह भी निश्चय किया गया कि जहाँ

जहाँ सार्वजनिक सभायें हों, उन उन शहरों के मेयरों को, यदि वे स्वीकार करें तो, अध्यक्षस्थान दिया जाय। साथ ही जहां तक हो सके कोशिश करके प्रत्येक शहर में सभा-स्थान के लिए वहाँ के टाउन हॉल का ही उपयोग किया जाय। हमने यह निश्चय कर लिया कि रेलवे-विभाग की इजाजत प्राप्त कर के मुख्य मुख्य स्टेशनों को भी सजाया जाय। तदनुसार कितने ही स्टेशनों को सजाने की इजाजत भी हमें मिल गई। यद्यपि सामान्यतया ऐसी इजाजत नहीं दी जाती। पर हमारी स्वागत की तैयारियों का असर सत्ताधिकारियों पर भी पड़ा। इसलिए उन्होंने भी जितनी उन से बन पड़ी सहानुभूति दिखाई। मसलन, केवल जोहान्सवर्ग के स्टेशन को सजाने में ही हमें लगभग १५ दिन लग गये। वहाँ हम लोगों ने एक सुन्दर प्रवेश द्वार बनाया था।

दक्षिण आफ्रिका के विषय में बहुत कुछ जानकारी तो उन्हें इंग्लैण्ड में ही मिल चुकी थी। भारत-सचिव ने दक्षिण आफ्रिका की सरकार को गोखले का दरजा, साम्राज्य में उनका स्थान, इत्यादि पहले ही बता दिया था। किन्तु स्टीमर कम्पनी में टिकट तथा व्यवस्था आदि करने की बात किसी को कैसे सूझ सकती थी? गोखलेजी की तबियत नाजुक थी। इसलिए उनको अच्छी कैबिन और एकान्त की बड़ी आवश्यकता रहती। पर उन्हें तो साफ उत्तर मिल गया कि ऐसी कैबिन है ही नहीं। मुझे ठीक ठीक पता नहीं है कि स्वयं गोखलेजी ने या उनके और किसी मित्र ने इंडिया आफिस में इस बात का इत्तिला किया। कम्पनी के डायरेक्टर को इण्डिया आफिस तरफ से पत्र पहुंचा। और जहां कोई कैबिन ही नहीं थी वहीं उनके लिए एक बढ़िया कैबिन तैयार हो गई।

उस प्रारम्भिक कटुता का अंत इस मधुरता के साथ हुआ। स्टीमर के कैप्टन को भी गोखलेजी का बढ़िया स्वागत करने के लिए सूचना पहुंची थी। इसलिए उनकी इस सफर के दिन बड़ी शान्ति और आनन्द के साथ बीते। गोखले उतने ही आनन्द और विनोदशील भी थे जितने वे गम्भीर थे। स्टीमर के खेल वगैराओं में वे खूब भाग लेते थे। इसलिए स्टीमर के मुसाफिरों में वे बड़े प्रिय हो गये। गोखलेजी को यूनियन सरकार यह विनय-सदेश भी पहुंचा कि वे युनियन सरकार के मिहमान हों और रेलवे के स्टेट सल्लून में ही सफर करें। किन्तु स्टेट सल्लून का तथा प्रिटोरिया में सरकारी मिहमान होना स्वीकार करने का निश्चय उन्होंने मेरे साथ मशवरा करने के बाद किया।

जहाज से वे केप टाउन में उतरने वाले थे। उनका मिजाज तो मेरी अपेक्षा से भी अधिक नाजुक साबित हुआ। वे एक खास तरह का भोजन ही खा सकते थे। अधिक परिश्रम भी नहीं उठा सकते थे। निश्चित कार्य-क्रम भी उनके लिए असह्य हो गया। जहांतक हो सका उसमें परिवर्तन किया गया। जहां कहीं परिवर्तन नहीं हो सका, वहां स्वास्थ्य बिगड़ने की आशंका होते हुए भी उन्होंने उसे कुबूल कर लिया। मुझे इस बात का बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि उनको बिना पूछे ही मैंने इतना सख्त कार्य-क्रम क्यों तैयार कर डाला ! कार्य-क्रम में कितनी ही जगह परिवर्तन किया गया। पर अधिकांश तो ज्यों का त्यों ही रखना पड़ा। यह बात मेरे ख्याल में नहीं आई थी कि उन्हें एकांत की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। अतः एकांत स्थान का प्रबन्ध करने में मुझे ज्यादह से ज्यादह कठिनाई हुई। पर

साथ ही नम्रता पूर्वक मुझे यह तो सत्य के लिए जरूर कहना पड़ेगा कि बीमार और बुजुर्गों की सेवा करने का मुझे खास अभ्यास और शौक भी था; इसलिए अपनी मूर्खता का ज्ञान होने के बाद मैं उसमें इतना सुधार कर सका था, कि उन्हें बहुत काफी एकान्त और शान्ति भी मिल सकी। प्रवास में शुरू से आखिर तक उनके मंत्री का काम स्वयं मैं ने ही किया। स्वयं-सेवक भी ऐसे थे जो सांय सांय करती अंधेरी रात में भी चिट्ठी का उत्तर ला सकते थे। इसलिए मेरा ख्याल है कि उन्हें सेवकों के अभाव के कारण कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ा होगा। कैलनबेक भी इन स्वयं सेवकों में थे।

यह तो प्रकट ही था कि केप टाउन में बढ़िया से बढ़िया सभा होनी चाहिए। श्राइनर कुटुम्ब के विषय में पहले भाग में लिख ही चुका हूं। उन में से डब्ल्यू. पी. श्राइनर से, जो मुख्य थे—अध्यक्ष स्थान स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की गई। हमारी प्रार्थना को उन्होंने मंजूर कर लिया। विशाल सभा हुई। भारतीय और गोरे भी अच्छी तादाद में आए। मि० श्राइनर ने मधुर शब्दों में गोखलेजी का स्वागत किया, और दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। गोखलेजी का भाषण छोटा परिपक्व विचारों से भरा हुआ, और दृढ़ किन्तु विनयपूर्ण भी था—ऐसा था जिसने भारतीयों को प्रसन्न कर दिया, और गोरों का भी चुरा लिया। गोखलेजी ने जिस दिन दक्षिण आफ्रिका की भूमि पर पैर रक्खा उसी दिन वहां की पचरंगी प्रजा के हृदय में उन्होंने अपना स्थान प्राप्त कर लिया।

केप टाउन से जोहान्सबर्ग को जाना था। रेल से दो दिन का

प्रवास था। युद्ध का कुरुक्षेत्र ट्रान्सवाल था। केप टाउन से आते समय राह में हमें ट्रान्सवाल के बड़े सरहदी स्टेशन क्लार्कस्डॉर्प पर से गुजरना पड़ता था। खास क्लार्कस्डॉर्प तथा राह में आने वाले अन्य शहरों में भी ठहर कर हमें सभाओं में जाना था। इसलिए क्लार्कस्डॉर्प से एक स्पेशल ट्रेन की व्यवस्था की गई। दोनों शहरों में वहां के मेयर ही अध्यक्ष थे। किसी भी शहर को एक घंटे से अधिक समय नहीं दिया गया था। जोहान्सबर्ग को ट्रेन बिलकुल ठीक समय पर पहुंची। एक मिनट का भी फर्क नहीं पड़ने पाया। स्टेशन पर खासे कालीन वगैरा बिछाये गये थे। एक मंच भी बनाया गया था। जोहान्सबर्ग के मेयर और दूसरे अनेक गोरे भी हाजिर थे। गोखलेजी जितने दिन जोहान्सबर्ग में रहे, उतने दिन तक उनके उपयोग के लिए मेयर ने उन्हें अपनी मोटर दे दी थी। स्टेशन पर ही उन्हें मानपत्र भी दिया गया। प्रत्येक स्थान पर मान-पत्र तो दिये ही जाते थे। जोहान्सबर्ग का मानपत्र बड़ा सुंदर था। दक्षिण आफ्रिका की लकड़ी पर जड़ी हुई सोने की हृदयाकार तख्ती पर खुदा हुआ था—तख्ती का सोना भी जोहान्सबर्ग की खान का ही था। लकड़ी पर भारत के कितने ही दृश्यों के सुंदर चित्र खुदे हुए थे। गोखलेजी का परिचय, मानपत्र को पढ़ना, और उसका उत्तर दिया जाना तथा अन्य मानपत्रों का लेना यह सब काम २२ मिनिट के अंदर कर लिये गये थे। मानपत्र इतना छोटा था कि उसे पढ़ने में पांच मिनिट से अधिक समय नहीं लगा होगा। गोखलेजी का उत्तर भी पांच ही मिनिट का था। स्वयं सेवकों का इन्तिज़ाम इतना बढ़िया था कि पूर्व निश्चित मनुष्यों के सिवा एक भी आदमी प्लेटफार्म पर नहीं आ सका। शोरोगुल

जरा भी न था। बाहर लोगों की खूब भीड थी। तथापि किसी के आने जाने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

उनके ठहरने की व्यवस्था मि० कैलनबेक की एक छोटी सी सुंदर बंगली में की गई थी। जो जोहान्सबर्ग से पांच मील की दूरी पर एक टेकड़ी पर थी। वहाँ का दृश्य ऐसा भव्य था, वहाँ की शांति ऐसी आनंद दायक थी, और बङ्गली सादी होते हुए भी कला से इतनी परिपूर्ण थी कि गोखलेजी खुश हो गये। मिलने जुलने की व्यवस्था सब के लिए शहर में ही की गई थी। उसके लिए एक खास ऑफिस किराये पर ले लिया गया था। उसमें एक कमरा केवल उनके आराम करने के लिए रक्खा गया था, दूसरा मिलने जुलने के लिए और तीसरा कमरा मिलने के लिए आनेवाले सज्जनों के बैठने के लिए। जोहान्सबर्ग के कितने ही प्रसिद्ध गृहस्थों से खानगी मुलाकात करने के लिए भी गोखलेजी को ले गये थे। गण्य मान्य गोरों की भी एक खानगी सभा की गई थी, जिससे गोखलेजी को उनके दृष्टि-बिन्दु का पूरी तरह ख्याल हो जाय। अलावा इसके जोहान्सबर्ग में उनके सम्मानार्थ एक विशाल भोज भी दिया गया, था जिसमें कोई ४०० आदमियों को निमंत्रित किया गया था। उनमें लग भग १५० गोरे थे। भारतीय टिकट लेकर ही आ सकते थे। टिकट की कीमत एक गीनी रक्खी गई थी। टिकटों की आय में से उस भोज का खर्च निकल आया। भोज केवल निरामिष और मद्यपान रहित था। खाना भी केवल स्वयं-सेवकों द्वारा ही बनाया गया था। इसका वर्णन यहां करना कठिन है। दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों में हिन्दू मुसलमान, छूत-अछूत आदि का कोई ख्याल ही नहीं होता। सब एक साथ बैठ कर खा.

लेते हैं। निरामिष आहार करने वाले भारतीय भी अपने नियम का पालन करते हैं। भारतीयों में कितने ही क्षत्रिय भी थे। दूसरों के मुआफिक उनसे भी मेरा तो गाढ़ परिचय था। उनमें से अधिकांश गिरमिटिया माता-पिता की प्रजा ही होते हैं। कई होटलों में खाना पकाने और परोसने का काम करते हैं। इन्हीं लोगों की सहायता से इतने मनुष्यों की रसोई की व्यवस्था हो सकी। तरह तरह के कोई पंद्रह व्यंजन थे। दक्षिण आफ्रिका के गोरों के लिए यह एक नवीन और अजीब अनुभव था। इतने भारतीयों के साथ एक पंक्ति में खाने के लिए बैठना, निरामिष भोजन करना और मद्यपान बिना काम चलाना ये तीनों अनुभव उनमें से कइयों के लिए नवीन थे। दो तो अवश्य ही सब के लिए नवीन थे।

इस सम्मेलन में गोखलेजी का बड़ा से बड़ा और महत्व पूर्ण भाषण हुआ। पूरे ४५ मिनिट बोले। इस भाषण की तैयारी के लिए उन्होंने हमारा खूब समय लिया था। पहले उन्होंने अपना जीवन भर का यह निश्चय सुनाया कि एक तो स्थानीय मनुष्यों के दृष्टि-बिन्दु की अवगणना नहीं होनी चाहिए; दूसरे, जहाँ तक उनसे मिलकर रहा जाय हम मिलकर रहने की कोशिश करें। इन दो बातों को ध्यान में रखकर मैं उनसे जो कहलाना चाहूं वह उन्हें बता दूं। पर यह मुझे उन्हें लिखकर देना चाहिए था। साथ ही, उनकी यह भी शर्त थी कि उसमें से एक भी वाक्य या विचार का वे उपयोग न करें तो मुझे बुरा न मानना चाहिए। लेख न लम्बा होना चाहिए और न छोटा। कोई महत्व पूर्ण बात भी छूटने न पावे। इन सब बातों का ख्याल रखते हुए मुझे उनके लिए स्मरणार्थ टिप्पणियाँ लिखनी पड़ती थीं। यह तो मैं सब से पहले कहे देता हूँ कि उन्होंने मेरी

भाषा का तो जरा भी उपयोग नहीं किया। वे तो अंगरेजी के पारंगत विद्वान् थे। फिर मैं यह आशा भी क्यों करूँ कि वे मेरी भाषा का उपयोग करें। पर मैं यह भी नहीं कह सकता कि उन्होंने मेरे विचारों का भी उपयोग किया। हाँ, मेरे विचारों की उपयुक्तता को उन्होंने जरूर स्वीकार किया। इसलिए मैंने अपने दिल को समझा लिया कि आखिर उन्होंने मेरे विचारों का भी किसी तरह उपयोग किया होगा। क्योंकि उनकी विचार शैली कोई ऐसी अजीब थी कि उससे हमें यही पता नहीं चलता था कि उन्होंने हमारे विचारों को कहां स्थान दिया है, अथवा दिया भी है, या नहीं। गोखलेजी के सभी भाषणों के समय मैं हाजिर था, पर मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं कि जिसमें मुझे यह इच्छा हुई हो कि फलां विशेषण या फलां विचार का उपयोग वे न करते तो अच्छा होता। उनके विचारों की स्पष्टता, दृढ़ता, विनय, इत्यादि उनके अथक परिश्रम और सत्यपरायणता के फल स्वरूप थे।

जोहान्सबर्ग में केवल भारतीयों की एक विराट सभा भी तो हो जाना ज़रूरी था। मेरा यह आग्रह पहले से ही चला आ रहा है कि भाषण मातृ-भाषा ही में अथवा राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी में ही होना चाहिए। इस आग्रह के कारण दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के साथ मेरा अधिक सरल और निकट का सम्बन्ध हो गया। इसलिए मैं चाहता था कि भारतीयों की सभा में गोखले भी हिन्दुस्तानी में भाषण दें तो बड़ा अच्छा हो, किन्तु इस विषय में उनके विचार मैं जानता था। टूटी-फूटी हिंदी से काम चलाना तो उन्हें पसंद ही नहीं था। अर्थात वे या तो मराठी में भाषण दे सकते थे या अँगरेजी में। मराठी में भाषण देना उन्हें

कृत्रिम मालूम हुआ। यदि मराठी में बोलते भी तो गुजरातियों तथा उत्तर हिन्दुस्तान के निवासी भारतीयों के लिए उसका अनुवाद करना अनिवार्य था। यदि ऐसा था तो फिर अंगरेजी में ही क्यों न बोला जाय ? पर मेरे पास एक ऐसी दलील थी, जिसको गोखले स्वाकार कर सकते थे। जोहान्सबर्ग में कोंकण के कई मुसलमान भी बसते थे। कुछ महाराष्ट्रीय हिन्दू भी थे। ये सब गोखलेजी का मराठी भाषण सुनने के लिए बड़े लालायित थे, और उन लोगों ने मुझे यह भी कह रक्खा था कि मैं गोखलेजी से मराठी में भाषण देने के लिये अनुरोध करूं। इसलिए मैंने गोखलेजी से कहा "यदि आप मराठी में भाषण देंगे तो इन लोगों को बड़ा आनन्द होगा। आप जो कुछ कहेंगे उसका मैं हिन्दुस्तानी में अनुवाद करके सुना दूंगा। यह सुनकर वे जोर से खिल खिलाकर हँस पड़े। "तेरा हिन्दुस्तानी का ज्ञान तो मैंने अच्छी तरह जांच लिया, वह तुझी को मुबारक हो। पर याद रख अब तुझे मराठी से अनुवाद करना होगा। भला बता तो सही इतनी अच्छी मराठी तू कहाँ से सीख गया" ? मैंने कहा "जो हाल मेरी हिन्दुस्तानी का है वही मराठी के विषय में भी समझिए। मराठी में एक अक्षर भी मैं नहीं बोल सकता। पर आप जिस विषय पर आज कुछ कहेंगे उसका भावार्थ मैं जरूर कह दूंगा। आप देखिएगा कि मैं लोगों के सामने उसका उलट सुलट अर्थ तो हरगिज न करूंगा। भाषण का अनुवाद करके सुनाने के लिए मैं ऐसे लोग तो आपको अवश्य ही दे सकता हूं, जो अच्छी तरह मराठी जानते हैं। पर शायद आप इस प्रस्ताव को मंजूर नहीं करेंगे। इसलिए मुझी को निबाह लीजिए, पर बोलिएगा मराठी ही में। कोंकणी

भाइयों के साथ साथ मुझे भी आपकी मराठी सुनने की बड़ी अभिलाषा है"। "भाई अपनी ही टेक रख। अब यहाँ तेरे ही तो पाले पड़ा हुआ हूं न ? अब कहीं यों थोडी छुट्टी मिल सकती है !" यह कह कर उन्होंने मुझे खुश कर दिया । इसके बाद झांझीबार तक इस तरह की प्रत्येक सभा में वे मराठी ही में बोले । और मैं खास उन्हीं का नियुक्त किया हुआ अनुवादक रहा। मेरा ख्याल है कि प्रत्येक भारतीय को यथा-सम्भव अपनी मातृ भाषा में अथवा व्याकरण शुद्ध अंगरेजी की बनिस्बत व्याकरण रहित टूटी फूटी हिन्दी ही में भाषण देना चाहिए। मैं कह नहीं सकता कि यह बात मैं उनको कहाँ तक समझा सका, किन्तु इतना तो मैं जरूर कहूंगा कि मुझे प्रसन्न करने के लिए उन्होंने दक्षिण आफ्रिका में तो मराठी ही में भाषण दिये। मैं यह भी जान सका कि अपने भाषण के बाद उसके प्रभाव से वे खुश भी हुए। दक्षिण आफ्रिका में अनेक प्रसंगों पर किये हुए अपने वर्ताव से गोखले ने यह बता दिया कि सिद्धान्त की कठिनाई न हो तो मनुष्य को अपने सेवकों को जरूर राजी रखना चाहिए। वह भी एक गुण है।

तेरहवां अध्याय

श्री गोखलेजी का प्रवास (चलू)

जोहान्सबर्ग से हमें प्रिटोरिया जाना था। प्रिटोरिया में गोखलेजी को युनियन सरकार का निमन्त्रण था। तदनुसार होटल में उनके लिए सुरक्षित जगह में ही हम ठहरे। यहां पर उन्हें युनियन सरकार के मंत्रिमंडल से, जिस में जनरल बोथा और जनरल स्मट्स भी थे, मिलना था। जैसा कि ऊपर लिख चुका हूं, मैंने उनका कार्यक्रम ऐसा बनाया था कि उन्हें हमेशा करने योग्य कामों की सूचना मैं प्रतिदिन सुबह कर दिया करता था। यदि वे चाहते तो अगली रात को भी बता देता। मंत्रि-मंडल से मिलने का काम उत्तरदायित्व पूर्ण था। हम दोनों ने निश्चय कर लिया था कि मुझे उनके साथ नहीं जाना चाहिए—जाने की आज्ञा भी नहीं मांगनी चाहिए। मेरी उपस्थिति के कारण मंत्रि-मंडल और गोखले के बीच में जरूर ही एक हद तक पडदा पड़जाने की सम्भावना थी। मन्त्रीगण उन्हें न तो पेट भर स्थानीय भारतीयों की और न मेरी ही ऐसी बातें बता सकते जिनको वे गलत समझते थे। और यदि वे कुछ कहना चाहते तो उसे भी खुले दिल से नहीं कह सकते थे। किन्तु इसमें एक असुविधा भी थी। गोखलेजी की

जिम्मेदारी दुगुनी हो जाती थी। यदि किसी बात को वे भूल जायँ, या मन्त्रि-मंडल की तरफ से कोई ऐसी बात कही जाय जिसका उत्तर इनके पास न हो, तो क्या किया जाय? अथवा भारतीयों की तरफ से किसी बात को कुबूल करना हो तब क्या किया जाय! ये दोनों बातें बिना मेरी या दक्षिण आफ्रिका के किसी जिम्मेदार नेता की उपस्थिति के कैसे तय हो सकती थीं? पर इसका निर्णय स्वयं गोखलेजी ने ही फौरन कर डाला। यही कि मैं उनके लिए शुरू से आखिर तक संक्षेप में भारतीयों की स्थिति का वृत्तान्त लिख दूं। उसमें यह भी हो कि भारतीय अपनी मांगों में कहां तक कम ज्यादह करने को तैयार हैं। इसके बाहर की कोई बात उपस्थित हो, तो उसमें गोखले अपना अज्ञान कुबूल कर लें। इस निश्चय के साथ ही वे निश्चिन्त भी हो गये। अब रहा यह कि मैं ऐसा एक कागज तैयार कर लूं और वे उसे पढ़ लें। पर पढ़ने इतना समय तो मैंने रक्खा ही नहीं था। कितना ही संक्षेप में लिखूं तो भी १८-२० वर्ष का, चार रियासतों की भारतीय जनता की स्थिति का इतिहास मैं १०-२० सफे से कम में कैसे दे सकता था? फिर उसके पढ़ लेने पर उनको कुछ सवाल तो अवश्य ही सूझते। पर उनकी स्मरणशक्ति जितनी तीव्र थी उतनी ही उनकी मिहनत करने की शक्ति भी अगाध थी। रात भर जागते रहे। पोलक को और मुझे भी सोने नहीं दिया। प्रत्येक बात की पूरी पूरी जानकारी प्राप्त कर ली। उलट सुलट रीति से सवाल करके इस बात की जांच भी कर ली कि वे स्थिति को बराबर समझ गये या नहीं। अपने विचार मेरे सामने कह सुनाये। अंत में उन्हें पूरा संतोष हो गया। मैं तो निर्भय ही था।

लगभग दो घंटे मन्त्रि-मंडल के पास बैठे, और वहाँ से आने पर मुझ से कहा, "तुझे एक साल के अन्दर भारतवर्ष आना है। सब बातों का फैसला हो गया है। काला-कानून रद होगा; इमिग्रेशन कानून से वर्ण-भेद निकाल दिया जायगा; और तीन पौंड का कर भी रद होगा"। मैंने कहा "इसमें मुझे पूरा सन्देह है। मंत्रि-मंडल को जितना मैं जानता हूं, इतना आप नहीं जानते। आपका आशा-वाद मुझे प्रिय है। क्योंकि स्वयं मैं भी आशावादी हूं। पर अनेक बातों में धोखा खाने पर अब मैं इस विषय में आपके इतनी आशा नहीं रख सकता। पर मुझे भय भी नहीं है। आप वचन ले आये, यही मेरे लिए काफी है। मेरा धर्म तो केवल यही है कि आवश्यकता उपस्थित होने पर युद्ध ठान दूं और यह सिद्ध करदूं कि वह न्याय्य है। इसकी सिद्धि में आपको दिया गया वचन हमारे लिए बड़ा फायदेमन्द होगा। और यदि लड़ना ही पड़ा तो वह हमें दूनी शक्ति देगा। पर मुझे न तो इस बात का विश्वास होता कि बिना अधिक तादाद में भारतीयों के जेल गये इसका निपटारा हो सकता है, और न इस बात का भी कि एक साल के अंदर मैं भारतवर्ष जा सकूंगा"। तब वे बोले "मैं तुझे जो कुछ कहता हूं इसमें कभी फर्क नहीं हो सकता। जनरल बोथा ने मुझे वचन दिया है कि काला कानून और वह तीन पौंडवाला कर भी रद होगा। तुझे एक साल के अंदर भारत लौटना ही होगा। मैं अब इस विषय में तेरी एक भी उजर नहीं सुनूंगा"।

जोहान्सबर्ग का भाषण प्रिटोरिया की मुलाकात के बाद हुआ था।

ट्रान्सवाल से डरबन, मॅरिट्सबर्ग आदि स्थानों को गये।

वहां भी कई गोरों से काम पड़ा। किम्बरली की हीरों की खान देखी। किंबरली और डरबन के स्वागत-मंडलों ने भी जोहान्सबर्ग के जैसे भोज दिये थे। उनमें अनेक अंगरेज भी आये थे। इस तरह भारतीयों और गोरों का दिल चुरा करके गोखलेजी ने दक्षिण आफ्रिका का किनारा छोड़ा। उनकी आज्ञा प्राप्त कर कैलनबेक और मैं उन्हें झांझीबार तक छोड़ने के लिए गये थे। स्टीमर में उनके लिए ऐसे भोजन की व्यवस्था कर दी गई जा उनको मुआफिक हो। रास्ते में डेलागोआ बे, इन्हामबेन, झांझीबार, आदि बंदरगाहों पर भी उनका बड़ा सन्मान किया गया।

रास्ते में हमारे बीच जो बातें होतीं उनका विषय भारतवर्ष और उसके प्रति हमारा धर्म ही रहता। प्रत्येक बात में उनका कोमल भाव, सत्यपरायणता, और स्वदेशाभिमान चमकता था। मैंने देखा कि स्टीमर में वे जो खेल खेलते उनमें भी खेलों की बनिस्बत भारतवर्ष की सेवा का भाव ही विशेष रहता। भला उनके खेल में भी सम्पूर्णता क्यों न हो!

स्टीमर में शान्ति के साथ बातें करने के लिए हमें समय मिल ही गया। उसमें उन्होंने मुझे भारतवर्ष के लिए तैयार किया। भारतवर्ष के प्रत्येक नेता का पृथक्करण करके दिखाया। वे वर्णन इतने हूबहू थे कि मुझे बाद में उन नेताओं का जो प्रत्यक्ष अनुभव हुआ, उसमें और उनके चरित्र-चित्रण में शायद ही कोई फर्क दिखाई दिया।

गोखलेजी के दक्षिण आफ्रिका के प्रवास में उनके साथ मेरा जो सम्बन्ध रहा उसके ऐसे कितने ही पवित्र संस्मरण हैं, जिनको मैं यहां दे सकता हूं। किन्तु सत्याग्रह के इतिहास के साथ उनका कोई सम्बन्ध न ीं है। इसलिए मुझे अनिच्छापूर्वक अपनी कलम

को रोकना पड़ता है। झांझीबार में हमारा जो-वियोग हुआ वह हम दोनों के लिए बड़ा दुखदायी था। किन्तु यह सोच कर कि देह-धारियों के घनिष्ट से घनिष्ट सम्बन्ध भी अंत में टूटते ही हैं, कैलनबैक ने और मैंने अपना समाधान किया। हम दोनों ने यह आशा की कि गोखलेजी की वाणी सत्य हो और हम दोनों एक साल के अन्दर ही भारतवर्ष में जा सकें। पर यह असम्भव सिद्ध हुआ।

इतना होते हुए भी गोखलेजी के दक्षिण आफ्रिका के प्रवास ने हमें अधिक दृढ़ बना दिया। युद्ध को जब अधिक रंग चढ़ा तब इस मुलाकात का रहस्य और आवश्यकता हम और भी अच्छी तरह समझे। यदि गोखले दक्षिण आफ्रिका नहीं आते, मंत्रि-मंडल से वे नहीं मिलते, तो हम तीन पौंड वाले कर को अपने युद्ध का विषय ही नहीं बना सकते। यदि काला कानून रद होते ही सत्याग्रह-बंद कर दिया जाता तो तीन पौंड के करके लिए हमें नवीनतः सत्याग्रह शुरू करना पड़ता। और उसमें असंख्य कष्ट उठाना पड़ते। इतना ही नहीं, बल्कि इस बात में भी भारी संदेह था कि लोग उसके लिए शीघ्र तैयार होते भी या नहीं। इस कर को रद करना स्वतन्त्र भारतीयों का कर्त्तव्य था। उसको रद कराने के लिए अर्जियां वगैरा सब उपाय काम में लाये जा चुके थे। सन् १८९५ के साल से कर दिया जा रहा था। चाहे कितना ही घोर दुःख क्यों न हो किन्तु यदि वह दीर्घ कालीन हो जाता है, तो लोग उसके आदी हो जाते हैं। फिर उन्हें यह समझाना महा कठिन है कि उन्हें उसका प्रतिकार करना चाहिए। गोखलेजी को जो वचन दिया गया उसने सत्याग्रहियों के मार्ग

को बड़ा सरल बना दिया। या तो सरकार को अपने वचन के अनुसार उस कर को रद कर देना चाहिए था, या नहीं तो स्वयं वह वचन-भंग ही सत्याग्रह के लिए एक काफी बलवान कारण हो जाता। और हुआ भी ठीक यही। सरकार ने एक साल के अंदर उस कर को रद नहीं किया। यही नहीं बल्कि यह भी साफ साफ कह दिया कि वह कर रद नहीं किया जा सकता।

इसलिए गोखले के प्रवास से हमें तीन पौंड वाले कर को सत्याग्रह के द्वारा रद कराने में बड़ी सहायता मिली। दूसरे, उनके उस प्रवास के कारण वे दक्षिण आफ्रिका के प्रश्न के एक विशेषज्ञ समझे जाने लगे। दक्षिण आफ्रिका सम्बन्धी अब उनके कथन का वजन भी कहीं अधिक बढ़ गया। साथ ही दक्षिण आफ्रिका में रहनेवाले भारतीयों की स्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान मिल जाने के कारण, वे इस बात को अधिक अच्छी तरह समझ सके, कि भारतवर्ष को उन लोगों के लिए क्या करना चाहिए— और उसे यह बात समझाने में उनकी शक्ति तथा अधिकार भी बहुत बढ़ गया फलतः अब की बार जब युद्ध चेता तो भारत से धन की वर्षा होने लग गई। लॉर्ड हार्डिंज तक ने सत्याग्रहियों के साथ अपनी सहानुभूति जाहिर कर उन्हें उत्साहित किया। भारत से मि० ऍण्डयूज और मि० पियर्सन दक्षिण आफ्रिका आये। यह सब बिना गोखले के प्रवास के नहीं हो सकता था। वचन-भँग कैसे हुआ, और उसके बाद क्या क्या हुआ? यह तो नये प्रकरण का विषय है।

चौदहवां अध्याय

वचन-भंग

दक्षिण आफ्रिका की लड़ाई में बड़ी सूक्ष्मता से काम लिया जा रहा था। यहाँ तक कि प्रचलित नीति के खिलाफ एक भी बात नहीं की जाती थी। इतना ही नहीं, बल्कि इस बात का भी बराबर ख्याल रक्खा जाता था कि सरकार को भी अनुचित रीति से न सताया जाय। उदाहरणार्थ काला कानून केवल ट्रान्सवाल के भारतीयों के लिए ही था इसलिए केवल ट्रान्सवाल के भारतीयों को ही सत्याग्रह की नीति में दाखल किया जाता था। नाताल, केप कोलोनी इत्यादि देशों से किसी को भी भरती नहीं किया जाता था। बल्कि वहाँ से जिन लोगों ने सत्याग्रह में शामिल होने के लिए अपने नाम भेजे थे उन्हें तक इन्कार कर दिया गया था। लड़ाई की मर्यादा भी इस कानून को रद करने तक ही रक्खी गई थी। इस बात को न तो गोरे समझ सकते थे और न भारतीय ही समझ सकते थे। प्रारम्भ में भारतीय इस बात की मांग किया करते थे कि लड़ाई शुरू करने के बाद काले कानून के अतिरिक्त अन्य दुःखों को भी यदि हम लड़ाई के उद्देशों में शामिल कर सकते हों तो क्यों न कर लिया जाय? शांति पूर्वक मैंने उन लोगों को समझाया

कि इस से सत्य का भंग हो सकता है। और जहां सत्य के लिए आग्रह किया जा रहा है, वहां उसके भंग की बात कैसे शामिल की जा सकती है ? शुद्ध लड़ाई का तरीका तो यही होना चाहिए कि यदि लड़ते लड़ते जूझने वाले का बल बढ़ भी जाय तो भी प्रारम्भ में जिन उद्देशों को लेकर वह चला हो, उनके अतिरिक्त दूसरी बातों को उसे शामिल नहीं करना चाहिए, इसके विपरीत उस उद्देश का वह त्याग भी नहीं कर सकता, फिर भले ही लड़ते लड़ते उस की शक्ति क्षीण ही क्यों न हो जाय। इन दोनों बातों पर दक्षिण आफ्रिका में पूरा पूरा ध्यान दिया गया था। हम इस बात को भी देख चुके हैं कि जिस बल की हिम्मत पर लड़ाई का प्रारंभ किया गया था, वह आगे चलकर मिथ्या साबित हुआ तथापि शेष सत्याग्रही तो, जो केवल मुट्ठी भर ही थे, अंत तक अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ ही रहे। किन्तु यह बहुत मुश्किल नहीं है। मुश्किल है यह बात कि बल की वृद्धि होते हुए भी हम उसके उद्देशों में दूसरी दूसरी बातें शामिल न करें। उसमें अधिक संयम है। दक्षिण आफ्रिका में इस तरह के प्रलोभन के कई अवसर आये। पर मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूं कि उनमें से एक का भी फायदा नहीं उठाया गया। इसलिए मैं कई बार कह चुका हूँ कि सत्याग्रही का निश्चय तो एक ही हो सकता है। वह न तो कम कर सकता है और न बढ़ा सकता है; न उसमें वृद्धि के लिए अवकाश है और न क्षय के लिए ही। मनुष्य जिस नाप से अपने को नापता है, ठीक उसी नाप से संसार भी उसे नापने को जाता है। जब सरकार ने यह देखा कि सत्याग्रही इतनी सूक्ष्म नीति से काम लेते हैं तब वह भी उसी रीति से उनके कार्यों की आलोचना करने लग गई। हां खुद के लिए

भले ही वह अपने एक भी काम में उस नीति को न अख्तियार करे। दो चार वार उसने सत्याग्रहियों के सिर इस नीति के भंग का आरोप मढ़ भः दिया। यह बात तो एक नन्हे से बालक की समझ में भी आ सकती है कि काले कानून के बाद यदि भारतीयों के खिलाफ सरकार किसी नवीन कानून की रचना करती तो उसका समावेश लड़ाई के उद्देशों में अपने आप ही हो जाता। तथापि जब नवीन आने वाले भारतीयों के खिलाफ वह इमिग्रेशन कानून बनाया गया, और उसको लड़ाई के उद्देशों में शामिल किया गया तब सरकार ने यही आरोप किया कि लड़ाई के हेतु में एक नई बात शामिल की गई है। पर उसका यह आरोप नितान्त अनुचित था। यदि बाहर से आने वाले भारतीयों के ऊपर ऐसी कोई नई शर्त लगा दी गई जो पहले नहीं थी, तो उसको युद्ध के उद्देशों में शामिल कर लेना उचित ही तो था। और इसीलिए सोराबजी वगैरा युद्ध में शामिल हो सके। पर सरकार इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकती थी। किन्तु निष्पक्ष लोगों को इस बात की नीतियुक्तता समझाने में मुझे जरा भी कठिनाई नहीं मालूम हुई।

गोखलेजी के चले जाने बाद फिर एक ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हुआ। गोखले तो सोच रहे थे कि तीन पौंड का कर अवश्य ही एक साल के अंदर उठा लिया जायगा; और उनके जाने बाद होने वाली दक्षिण आफ्रिका की पार्लियामेन्ट में उस कर को उठाने के लिए कानून भी स्वीकृत हो जायगा। पर दर असल हुआ क्या? हुआ यह कि जनरल स्मट्स ने उस पार्लियामेन्ट में यह जाहिर किया कि नाताल के गोरे उस कर को उठाने के लिए तैयार नहीं हैं। इसलिए सरकार उस कर को रद्द करने सम्बन्धी कानून को स्वीकार

करने में असमर्थ है। वस्तुतः ऐसी कोई बात ही नहीं थी। युनियन पार्लियामेन्ट में चार रियासतें हैं। उसमें केवल नाताल के सभ्यों की कहाँ तक चल सकती थी? फिर मंत्रि-मण्डल कानून बनावे, पार्लियामेंट इसको अस्वीकृत करे, तब कहीं वे इस तरह जाहिर कर सकते थे। पर जनरल स्मट्स ने इनमें से एक भी नहीं किया। इसलिए उस हानिकर कर को भी लड़ाई के उद्देशों में शामिल कर लेने का शुभ संयोग अनायास हमारे हाथ लग गया। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि युद्ध के चलते हुए यदि कोई वचन दे और उसका भंग करे तो वह युद्ध के उद्देश में शामिल किया जा सकता था। दूसरे, यह कि ऐसे वचन-भंग से गोखले जैसे भारत के सन्मान्य प्रतिनिधि का अपमान हो रहा था, जो परम्परया भारत का अपमान ही था। भला, उसे हम कैसे बरदाश्त कर सकते थे? यदि पहली बात ही होती और इधर सत्याग्रहियों में उसके लिए जूझने की शक्ति भी न होती तो भले ही कर को रद करने के लिए सत्याग्रह जैसे शस्त्र का उपयोग वे न करते। पर जिस बात से समस्त भारत का अपमान हो रहा हो, उसे तो वे हरगिज नहीं सह सकते थे। इसलिए इस तीन पौंड के कर को भी लड़ाई के उद्देशों में शामिल कर लेना सत्याग्रहियों के लिए एक धर्म हो गया। और ज्यों ही कर को लड़ाई में शामिल किया गया, त्यों ही गिरमिटियाओं को भी युद्ध में भाग लेने का मौका मिल गया। पाठकों को याद होगा कि अब तक इन लोगों को युद्ध में शामिल नहीं किया गया था। इसलिए एक ओर तो लड़ाई के कारण बढ़ गये, और दूसरी ओर योद्धाओं की सँख्या बढ़ने का भी समय आ पहुँचा।

अभी तक गिरमिटियाओं में किसी प्रकार युद्ध की शिक्षा की

बात तो दूर ही है, लड़ाई की चर्चा भी नहीं की जाती थी। वे निरक्षर थे। इसलिए न 'इण्डियन ओपिनियन' पढ़ सकते थे, और न दूसरा कोई समाचार पत्र। इतना होते हुए भी मैं देखता था कि ये गरीब लोग सत्याग्रह का निरीक्षण खूब कर रहे थे और जो कुछ भी हो रहा था उसे समझते थे। उनमें से कितनों ही को तो इस बात का बराबर दर्द हो रहा था कि वे उस युद्ध में शामिल नहीं हो सकते थे। जब वचन-भँग हुआ और तीन पौंड का कर लड़ाई के उद्देशों में शामिल करने की नोटिस दी गई, तब मुझे भी यह पता न था उन लोगों में से कौन कौन युद्ध में शामिल होंगे।

वचन-भँग वाली बात मैंने गोखलेजी को लिख भेजी। उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्हें मैंने लिख दिया कि आप निर्भय रहें। हम लोग आमरण जूझेंगे और कर को रद कराएँगे। हाँ, एक साल के अन्दर मेरे भारत जाने की बात अनिश्चित समय के लिए आगे बढ़ गई। गोखलेजी तो अँकगणित के शास्त्री थे न! उन्होंने मुझ से ज्यादह से ज्यादह और कम से कम लड़ने वालों की संख्याओं के अँक मांगे। मुझे इस समय जहाँ तक स्मरण होता है, मैंने उनको ज्यादह से ज्यादह ६५–६६ और कम से कम १६ लड़ने वालों के नाम लिख भेजे। मैंने उन्हें यह भी लिख दिया था कि इतनी छोटी सँख्या के लिए मैं भारत से आर्थिक सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। हमारे विषय में निश्चिन्त रहने और अपने शरीर को अधिक कष्ट न देने के लिए भी मैंने उनसे प्रार्थना की थी। दक्षिण आफ्रिका से वम्बई लौटने पर उन पर कमजोरी के कितने ही आरोप मढ़े गये थे। उनकी खबर भी मुझे समाचार पत्रों द्वारा तथा अन्य रीति से मिल चुकी थी। इसलिए मैं चाहता था कि

हमें आर्थिक सहायता भेजने के लिए वे भारत में किसी प्रकार का आन्दोलन न करें। पर मुझे उनका कडक उत्तर मिला। "जिस तरह तुम लोग दक्षिण आफ्रिका में अपना धर्म समझते हो, उसी प्रकार हम भी यहाँ कुछ कुछ अपना धर्म अवश्य ही समझते होंगे। हमें यहाँ पर क्या करना चाहिए यह आपको बतलाने की आवश्यकता नहीं है। मैं तो केवल वहाँ की परिस्थिति मात्र जानना चाहता था। हमें अपनी तरफ से क्या करना चाहिए। इस विषय में हमने आप से कोई सलाह नहीं मांगी थी" इन शब्दों के भेद को मैं समझ गया। उस दिन से मैंने उन्हें इस विषय में न तो एक शब्द कहा और न लिखा ही। इसी पत्र में उन्होंने मुझे आश्वासन और चेतावनी भी दी थी। जब वचन-भंग हुआ तो उन्हें ख्याल हुआ कि अब लड़ाई का अन्त जल्दी न होगा। उन्हें इस बात में भी सन्देह था कि ये मुट्ठीभर लोग सरकार का सामना कैसे और कहाँ तक कर सकेंगे! इधर हमने तैयारियां शुरू कर दीं। हम जान गये थे कि अब उसके बाद जो युद्ध छिड़ने को था उसमें हम शांति से तो बैठ ही नहीं सकते थे। हम सब यह भी समझ चुके थे कि अब की बार लम्बी लम्बी सजायें भोगना होंगी। टॉलस्टॉय फार्म बंद करने का निश्चय हुआ। कितने ही कुटुम्ब अपने पुरुष-वर्ग के छूटते ही अपने अपने घर चले गये। बाकी रहने वालों में मुख्यत: फिनिक्स के ही थे। अत: तय हुआ कि इसके बाद सत्याग्रहियों का अड्डा फिनिक्स ही रहे। फिर यदि तीन पौंड वाली लड़ाई में गिरमिटिया भी भाग लें तो नाताल में रह कर उनसे मिलने जुलने में अधिक सुविधा होगी। इस ख्याल से भी फिनिक्स को सत्यागृहियों का केंद्र बनाना-तय हुआ।

अभी लड़ाई शुरू करने की तैयारियां चल ही रही थीं कि एक नवीन विघ्न आ उपस्थित हुआ, जिसके कारण स्त्रियों को भी युद्ध में शामिल होने का अवसर मिल गया। कितनी ही बहादुर स्त्रियों ने तो इससे पहले भी युद्ध में भाग लेने की आज्ञा मांगी थी। उदाहरणार्थ, जब परवाने बिना दिखाये फेरी करके जेल में जाना तय हुआ, तब कितनी ही फेरी करने वाली स्त्रियों ने भी जेल जाने की इच्छा जाहिर की थी। पर उस समय विदेश में स्त्रियों को जेल भेजना हम सब को अनुचित मालूम हुआ। जेल में भेजने लायक वैसा कोई कारण भी नहीं दिखाई दिया। अलावा इसके उस समय उन्हें जेलों में भेजने की मुझे तो हिम्मत भी नहीं हुई। बल्कि उस समय तो मुझे यही मालूम हुआ कि जो कानून पुरुषों पर अमल करता था उसके लिए स्त्रियों का बलिदान देना पुरुषों के लिए लज्जास्पद होगा। पर अब तो एक ऐसी घटना हुई जिससे स्त्रियों का विशेष अपमान होता था। इसलिए अब यही जान पड़ा कि उस अपमान को दूर करने के लिए स्त्रियों का बलिदान भी दिया जाय तो अनुचित न होगा।

पन्द्रहवां अध्याय

विवाह गैर कानूनन

अब एक ऐसी घटना हुई कि जिसको देखते हुए यह मालूम होने लगा, मानो परमात्मा स्वयं अदृश्य रहते हुए भारतीयों की जीत के लिए कोई सामग्री तैयार कर रहे हों, और मानों दक्षिण आफ्रिका के गोरों के अन्यायों को अधिक स्पष्ट रीति से बता देना चाहते हों। हिन्दुस्तान से कितने ही विवाहित लोग दक्षिण आफ्रिका गये थे। कितनों ही की शादी वहीं हुई थी। भारतवर्ष में यह कानून तो हई नहीं कि सामान्य विवाहों को भी रजिस्टर किया जाय। धार्मिक क्रिया काफी होती है। यही प्रथा दक्षिण आफ्रिका में भी होनी चाहिए थी, और चालीस वर्ष से इसी तरह भारतीय वहां रह भी रहे थे। भारत के भिन्न भिन्न धर्मों के नियमानुसार जो विवाह होते चले जा रहे थे उनमें से अभीतक एक भी रद नहीं समझा गया था। पर इस समय एक ऐसा मामला अदालत में आया जिसमें न्यायाधीश ने यह फैसला सुनाया कि दक्षिण आफ्रिका के कानून में, उसी विवाह के लिए स्थान है जो ईसाई धर्म के अनुसार होता है,—अर्थात् जो विवाह-अधिकारी के रजिस्टर में दर्ज कर लिया जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी

प्रकार के विवाह के लिए उसमें स्थान नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि इस भयंकर फैसले के अनुसार सभी विवाह रद करार कर दिये गये, और फलतः उस कानून की मन्शा के अनुसार दक्षिण आफ्रिका में परिणीत कितनी ही भारतीय स्त्रियों का दरजा धर्मपत्नी का न रहा। वे सरासर दाश्तायें गिनी जाने लगीं। और आगे चलकर उनसे उत्पन्न होने वाली प्रजा भी पिता की वारिस नहीं रही। इस स्थिति को न तो स्त्रियां सह सकती थीं, और न पुरुष। दक्षिण आफ्रिका में रहने वाले भारतीयों में इससे भारी खड़बड़ाहट मच गई। अपने स्वभाव के अनुसार मैंने सरकार से पूछा कि क्या वह न्यायाधीश के फैसले को कुबूल करती है, या उसके बताये कानून के अर्थ को, यद्यपि वह ठीक है, अनर्थ कर समझ कर एक नये कानून द्वारा हिन्दू, मुसलमान, इत्यादि के धार्मिक विवाहों को कानूनन मानेगी ? पर इस समय सरकार क्यों इन बातों की परवा करने चली ? उत्तर नकारात्मक मिला। फिर इस बात का विचार करने के लिए सत्याग्रह-मंडल बैठा कि उस फैसले पर अपील की जाय या नहीं ? अंत में सभी सभ्य इसी निश्चय पर पहुंचे कि ऐसे मामलों में अपील हो ही नहीं सकती। यदि अपील करना अनिवार्य हो तो सरकार को करनी चाहिए। अथवा यदि सरकार चाहे तो खुले तौर पर भारतीयों का पक्ष ग्रहण करे तभी भारतीय कुछ कर सकते हैं। इसके बिना अपील करने के मानी तो गोया यह मान लेना है कि फलां तौर पर हिन्दू मुसलमानों का विवाह रद हो जाता है। फिर ऐसी अपील करने पर भी यदि हमारी हार हुई तो सिवा सत्याग्रह के दूसरा चारा ही न रहे। इसलिए ऐसे अपमान पर हम तो अपील कर ही नहीं सकते।

अब तो ऐसा समय उपस्थित हो गया कि शुभ चौघड़िया या शुभ तिथि की राह देखना असंभव था। स्त्रियों का अपमान हो जाने पर कैसे धीरज धारण किया जा सकता था? यह निश्चय किया कि जितने लोग मिल जावें उन्हींको लेकर सत्याग्रह शुरू कर दिया जाय। अब स्त्रियों को सत्याग्रह में शामिल होने से हम नहीं रोक सकते थे, बल्कि यह निश्चय किया कि युद्ध में शामिल होने के लिए उन्हें निमन्त्रित भी किया जाय। सब से पहले तो टॉलस्टॉय फार्म पर रहनेवाली बहनों को ही निमन्त्रित किया गया। वे तो स्वयं ही सत्याग्रह में शामिल होने के लिए तड़फ रही थीं। युद्ध में होने वाली तमाम कठिनाइयों और जोखिमों का चित्र पहले पहल मैंने उनके सामने रक्खा। खान-पान, पोशाक, सोना, बैठना आदि सब बातों में उन्हें परतंत्रता रहेगी आदि समझाया। जेल में सख्त मज्दूरी करनी होगी, कपड़े धुलाये जावेंगे, अधिकारी लोग अपमान करेंगे, इत्यादि बातों से भी उन्हें सावधान कर दिया। पर वे बहनें तो एक भी बात से नहीं डरीं। सभी बहादुर थीं। उनमें से एक तो गर्भवती थी। कई बहनों की गोद में नन्हे नन्हे बच्चे थे। पर उन्होंने भी शामिल होने के लिए आग्रह किया। मैं तो उनमें से एक को भी नहीं रोक सका। सभी बहनें शामिल थीं। उनके नाम नीचे लिखे हैं:—

श्रीमती थम्बी नायडू; २ श्रीमती एन्० पिल्ले; ३ श्रीमती के० मुरगेसा पिल्ले; ४ श्रीमती ए० पी० नायडू; ५ श्रीमती पी० के० नायडू; ६ श्रीमती चिन्न स्वामी पिल्ले; ७ श्रीमती एन्० एस्० पिल्ले; ८ श्रीमती आर० ए० मुदलिंगम्; ९ श्रीमती भवानी दयाल; १० श्रीमती एम० पिल्ले; ११ श्रीमती एम० बी० पिल्ले।

इनमें से छः बहिनों की गोद में बालक थे। कोई अपराध करके कैद होना आसान है। पर निर्दोष रहते हुए गिरफ्तार होना कठिन है। अपराधी गिरफ्तार नहीं होना चाहता, इसलिए पुलिस उसके पीछे लगी रहती है। और उसे गिरफ्तार करती है। पर स्वेच्छा-पूर्वक निर्दोष रहते हुए जेल जाने की इच्छा रखने वाले को पुलिस तब पकड़ती है जब वह मजबूर हो जाती है। इन बहनों का पहला प्रयत्न निष्फल हुआ। उन्होंने बिना परवाने की फेरी की, पर पुलिस ने उनको पकड़ने से इनकार किया। उन्होंने फ्रीनिखन से ऑरेंजिया की सरहद में बिला इजाजत प्रवेश किया। पर उन्हें कोई गिरफ्तार ही नहीं करता था। अब इनके लिए यह सवाल खड़ा हो गया कि गिरफ्तार किस तरह होवें? ऐसे मर्द भी ज्यादह नहीं थे जो गिरफ्तार होने के लिए तैयार हों, और जो तैयार थे उनके लिए गिरफ्तार होना कठिन था।

अंत में उसी मार्ग का अवलम्बन करने का निश्चय किया जिसका अंत में अवलम्बन करने के लिए सोच रक्खा था। वह तेजस्वी भी साबित हुआ। मैंने सोच रक्खा था कि मेरे साथ फिनिक्स में रहने वालों को सब के बाद, अँत में, जेल भेजना चाहिए। यह मेरे लिए अंतिम त्याग था। फिनिक्स में रहने वाले निकट के साथी और सगे-सम्बन्धी थे। यह सोच रक्खा था कि समाचार-पत्र चलाने के लिए आवश्यक आदमियों को तथा १६ साल से कम वयस् वाले बालकों को छोड़कर शेष सब को जेल-यात्रा के लिए भेज दिया जाय। इससे अधिक त्याग करने के साधन मेरे पास नहीं थे। गोखले को लिखते समय जिन सोलह आदमियों का जिक्र किया था वे इन्हींमें से थे। मैंने यह-निश्चय किया था

कि इन लोगों को सरहद नांघ कर ट्रान्सवाल में "बिना परवाने के ले जाकर ट्रान्सवाल में प्रवेश करने" के गुनाह के अनुसार गिरफ्तार करवा दूँ। हमें यह भी डर था कि यदि इन लोगों का नाम-ठाम पहले ही से जाहिर कर दिया जायगा, तो शायद सरकार इन्हें गिरफ्तार भी नहीं करेगी।

इसलिए दो चार मित्रों को छोड़कर मैंने और किसी से इस बात का जिक्र तक नहीं किया था। सरहद नांघते समय पुलिस के अधिकारी अक्सर नाम ठाम पूछते हैं। हमने यह भी सोच रक्खा था कि उस समय नाम वगैरा नहीं बताया जाय। अधिकारी को नाम वगैरा नहीं बताना भी एक पृथक अपराध समझा जाता था। यदि नाम वगैरा बता देते तो पुलिस को यह मालूम हो जाता कि वे मेरे सगे-सम्बन्धी हैं, और इसलिए हमें डर था कि शायद वह उन्हें छोड़ भी देती। इसीलिए हमने पहले ही से यह निश्चय किया था कि नाम वगैरा नहीं बताया जाय। और इस विधि के अनुसार ट्रान्सवाल की जिन जिन बहनों को गिरफ्तार होने की इच्छा थी उन्हें नाताल में हाजिर हो जाना जरूरी था। जिस प्रकार नाताल से बिना परवाने के ट्राँसवाल जाना गुनाह समझा जाता था, ठीक उसी तरह ट्रांसवाल से नाताल आने वाले का भी वही हाल होता था। इसलिए ट्रांसवाल से आने वाली बहनें यदि पकड़ी जातीं तो नाताल में ही पकड़ी जातीं। यदि उन्हें पकड़ा न गया तो यह तय हुआ था कि नाताल की कोयले की कानों में, जिन का केन्द्र न्यूकेसल था, वे चली जावें और वहाँ के मज्दूरों को कानें छोड़ने के लिए समझावें। इन बहिनों की मातृ-भाषा तामिल थी। उन्हें कुछ कुछ हिंदुस्तानी भी याद थी।

मज्दूर लोग भी प्रायः मदरास इलाके के—तामिल तेलुगु ही थे। दूसरे प्रांत के भी बहुत से थे। यदि मजदूर इन बहनों की बात मान कर मज्दूरी छोड़ दें तो मज्दूरों के साथ साथ इन बहनों को भी सरकार गिरफ्तार किये बिना कैसे रह सकती थी? अतएव मज्दूरों में भी खूब उत्साह फैलने की पूरी सम्भावना थी। इस तरह सभी बातें ट्रान्सवाल की बहनों को समझा दी गई थीं।

इसके बाद मैं फिनिक्स पहुँचा। वहाँ सब के साथ बैठ कर बात-चीत की। पहले पहल तो फिनिक्स में रहने वाली बहनों से इस विषय में बात-चीत कर लेना था। मैं जानता था कि बहनों को जेल में भेजना एक भँयकर बात है। फिनिक्स में रहने वाली अधिकांश बहनें गुजराती थीं। इसलिए उन्हें उन ट्राँसवाल वाली बहनों के समान मुस्तैद और अनुभवी नहीं कह सकते थे। फिर उनमें से कितनी ही तो मेरी रिश्तेदार ही थीं। इसलिए केवल मेरी लिहाज से शायद वे जेल जाना मँजूर कर लें और यदि ऐन वक्त पर घबड़ा कर अथवा जेल में जाने के बाद कष्टों से अकुला कर माफी वगैरा माँग लें तो मुझे कितना आघात पहुँचेगा? लड़ाई एक-दम शिथिल हो जायगी इत्यादि सभी बातों पर विचार कर लेना जरूरी था। यह तो मैंने निश्चय ही कर लिया था कि अपनी पत्नी को तो मैं कभी नहीं ललचाऊँगा। एक तो वह लल-चाने पर ना कही नहीं सकती थी। और यदि हाँ भर भी लेती तो मुझे यह निश्चय नहीं था कि उस हाँ, को कितना महत्व दिया जाय। ऐसे जोखिम के समय स्त्री अपने आप जो काम करे उसी को मँजूर कर लेना श्रेयस्कर है। यदि वह कुछ न करे तो पति को बुरा भी नहीं मानना चाहिए। यह सब मैं जानता था। इसलिए

मैंने यह निश्चय कर लिया था कि अपनी पत्नी के साथ इस विषय में कोई बात तक न करूँ। अन्य बहनों के साथ मैंने बात-चीत की। उन्होंने भी ट्रांसवाल की बहनों की तरह फौरन बीड़ा उठा लिया और सब जेल-यात्रा करने को तैयार हो गईं। उन्होंने मुझे यह भी विश्वास दिलाया कि हर प्रकार के कष्ट झेल करके भी वे जेल-यात्रा पूरी करेंगी। इन सब बातों का सार मेरी पत्नी भी जान गई और उसने मुझ से कहा—"मुझे दुःख होता है कि आप मुझ से इस विषय में कोई बात-चीत क्यों नहीं करते? मुझ में ऐसी कौन खामी है, जो मैं जेल न जा सकूंगी? मुझे भी वही मार्ग लेना है जिसके लिए आप इन बहनों को सलाह दे रहे हैं।" मैंने कहा "तेरे चित्त को दुःखी तो मैं कैसे कर सकता हूँ? न इसमें अविश्वास की ही कोई बात है। मैं तो तेरे उत्तर से भी खुश हूँ। पर मुझे इस बात का आभास तक पसंद नहीं कि मेरे कहने पर तू जेल गई है। ऐसे काम सब को अपनी अपनी हिम्मत पर ही करना चाहिए। मैं यदि तुझ से कहूँ, और यदि तू मेरी आज्ञा का पालन करने के लिए स्वभावतः जेल चली भी जाय, किंतु अदालत में खड़ी रहते समय तेरे हाथ पाँव काँपें, तू हार जाय, या जेल के कष्टों को तू बरदाश्त न कर सके तो इसमें मैं तुझ को दोष तो न दूँगा पर मेरी हालत क्या होगी? मैं फिर तुझे किस तरह अपने पास रक्खूँ, और संसार में किस तरह मैं ऊँचा सिर करके खड़ा रह सकूँगा? इसी भय से मैंने तुझे अब तक कुछ नहीं कहा था।" मुझे उत्तर मिलाः—"यदि मैं हार कर छूट जाऊँ तो आप मेरा स्वीकार न कीजिएगा। आप यह कल्पना भी किस तरह कर सकते हैं कि मेरे बच्चे उन कष्टों

को सह सकते हैं, आप सब उन्हें बरदाश्त कर सकते हैं और अकेली में ही उन्हें नहीं सह सकूंगी? मुझे तो आपको इस युद्ध में शामिल करना ही होगा।' मैंने उत्तर दिया "तव तो हमें तुझे शामिल करना ही पड़ेगा। मेरी शर्त तो तू जानती ही है। मेरा स्वभाव भी जानती है। अब भी विचार करना हो तो कर ले। यदि पूरी तरह विचार कर लेने पर तुझे मालूम हो कि युद्ध में शामिल नहीं होना चाहिए, तो तुझे छुट्टी है। पहले ही से निश्चय वदलने में कोई शर्म की वात नहीं है।" उत्तर मिला मुझे कुछ भी सोचना विचारना नहीं है। मैं अपने निश्चय पर दृढ हूँ।" फिनिक्स में अन्य निवासी भी थे उन्हें भी मैंने इस प्रश्न पर स्वतंत्र रीति से विचार करने के लिए कहा। युद्ध का अंत शीघ्र हो या देरी से, फिनिक्स वना रहे या उसका नाम भी मिट जाय, जाने वाले भले चंगे रहें या बीमार हो जावें, पर किसी को पीछे न हटना चाहिए" इत्यादि शर्तें मैंने सवको बार बार ठोक पीट कर समझा दीं। सब तैयार हो गये। फिनिक्स के बाहर वालों में केवल रुस्तमजी जीवनजी घोरखोडु थे। उनसे मैं ये सब बातें छिपा नहीं सकता था, और न वे पीछे रह सकते थे। जेल तो उन्हें जाना ही था, पर वे चाहते थे कि बाद में जावें इस टुकडी के नाम नीचे लिखे हैं:—

(१) सौ० कस्तूर मोहनदास गांधी; (२) सौ० जयाकुंवर मणिलाल डाक्टर; (३) सौ० काशी छगनलाल गांधी; (४) सौ० संतोक मगनलाल गांधी; (५) श्री० पारसी रुस्तमजी जीवणजी घोरखोडु; (६) छगनलाल खुशालचन्द गांधी; (७) श्री० रावजी भाई मणिलाल पटेल; (८) श्री० मगनभाई हरिभाइ पटेल; (९) श्री० सोलोमन रॉयन; (१०) भाई रामदास मोहनदास गांधी;

(११) भाई राजू गोविन्दु; (१२) भाई शिवपूजन वद्री; (१३) भाई गोविन्द राजुलू; (१४) श्री कुप्पु स्वामी मुदालियार; (१५) भाई गोकलदास हंसराज; (१६) भाई रेवाशंकर रतनशी सोढ़ा।

आगे के हाल सोलहवें अध्याय में।

सोलहवां अध्याय

स्त्रियां कैद में

यह टुकड़ी सरहद को लांघकर बिना परवाने के ट्रान्सवाल में प्रवेश करने के अपराध में जेल की सैर करने वाली थी। पिछले अध्याय के अंत में दिये हुए नामों को पढ़ने पर पाठक देखेंगे कि इनमें से कितने ही नाम ऐसे हैं जिनके मालूम हो जाने पर यह आशंका थी कि पुलिस शायद उन्हें न भी पकड़ती। मेरे विषय में यही हुआ था। दो एक बार पकड़ लेने पर फिर सरहद लांघते समय पुलिस ने मुझे पकड़ना ही छोड़ दिया। इस टुकड़ी के निकलने की खबर किसी को नहीं भेजी गई थी, फिर समाचारपत्रों को तो कहां से मालूम हो? उन्हें यह भी समझा दिया गया था कि वे पुलिस को अपना नाम ठाम भी नहीं बतावें। कह दें कि नाम अदालत में बतला दिये जावेंगे।

ऐसे कई मामले पुलिस के पास आते थे। गिरफ्तारी के आदी हो जाने पर भारतीय तो कई बार पुलिस को केवल मधुरता पूर्वक सताने के लिए नाम वगैरा बताने से इन्कार कर दिया करते थे। इसलिए इस समय भी पुलिस को कोई विचित्रता नहीं मालूम हुई। इस टुकड़ी को पुलिस ने पकड़ लिया। अदालत में मामला पेश हुवा और सबको तीन तीन महीने की सख्त कैद की सजा मिली।

जो बहनें ट्रान्सवाल में गिरफ्तार न हो सकीं, वे निराश

होकर अब नाताल में आईं। विना परवाने के प्रवेश करने के अपराध में पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार नहीं किया। यह तो पहले ही निश्चित हो चुका था कि यदि पुलिस उन्हें गिरफ्तार न करे, तो उन्हें सीधे न्यू कॅसल चले जाना चाहिए, और वहां की कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों से अपना काम छोडने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। न्यू कॅसल नाताल की कोयलों की खानों का केन्द्र है। इन खानों में खासकर भारतीय मजदूर ही थे। वहनों ने अपना काम शुरू कर दिया। इसका परिणाम विजली का सा हुआ। तीन पौंड के कर की वात कहकर उनपर असर डाला गया। मजदूरों ने अपना काम छोड़ दिया। मुझे इसका तार मिला। मैं खुश हुआ, पर साथ ही उतना ही घवड़ाया भी। सवाल यह था कि मुझे क्या करना चाहिए? मैं इस अद्भुत जागृति के लिए तैयार न था। मेरे पास पैसे नहीं थे, और न थे इतने आदमी कि जो इतने वड़े काम को अच्छी तरह संभाल लें। तथापि मैं अपने कर्तव्य को जानता था। सोचा, मुझे पहले न्यू कॅसल जाना चाहिए और वहाँ जो कुछ भी वन पड़े वही करना चाहिए। मैं निकला।

उन वहादुर वहनों को भला अव सरकार कैसे छोड़ सकती थी? वे गिरफ्तार कर ली गईं, और पहली टुकड़ी में जा कर शामिल हो गईं। उन्हें भी वही सजा दी गई, और उन्हीं के साथ साथ रक्खा गया। अव तो दक्षिण अफ्रिका के तमाम भारतीयों की नींद टूटी, और वे खड़वड़ा कर जाग उठे, मानों उनमें नवीन चैतन्य ने प्रवेश किया। परन्तु स्त्रियों के वलिदान ने तो भारत को भी जगा दिया। सर फिरोजशाह मेहता आज तक तटस्थ थे। सन् १९०१ में उन्होंने मुझे उलहना देकर समझाया था कि मुझे

दक्षिण अफ्रिका नहीं जाना चाहिए। उनका अभिप्राय मैं पहले ही लिख चुका हूं। सत्याग्रह के युद्ध का भी उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। पर स्त्रियों की कैद का तो उनपर भी जादू का सा प्रभाव पड़ा। स्वयं उन्होंने अपने टाऊनहाल वाले भाषण में कहा था कि "स्त्रियों की कैद ने उनकी शांति को भंग कर दिया"। अब भारतवर्ष चुप चाप नहीं बैठा रह सकता था।

स्त्रियों की बहादुरी का वर्णन कहाँ तक किया जाय! सबको नाताल की राजधानी मॉरिट्सबर्ग में ही रक्खा गया। यहाँ उन्हें कष्ट भी खूब दिया गया। उनके खान-पान की जरा भी चिंता नहीं की जाती थी। मजदूरी के स्थानपर उनको धोबी का काम दिया गया। बाहर से खाना मँगाने की सख्त मनाई थी, जो आखीर तक कायम रही। एक बहन का व्रत था कि वह एक खास तरह का भोजन ही कर सकती थी। बड़ी मुश्किल से उसे वही खुराक देने का प्रस्ताव मंजूर किया गया। पर चीज़ ऐसी मिलती कि उसे खाया ही नहीं जा सकता था। ओलिव ऑइल की विशेष आवश्यकता थी। पर पहले तो वह दिया ही नहीं गया। और जब मिला तो पुराना और खराब। जब कैदियों ने प्रार्थना की कि हमारे खर्च से ही खाना मँगवा दिया जाय, तो उस पर उत्तर मिला "यह होटल नहीं है जो मिलेगा वही खाना पड़ेगा"। वह बहन जब जेल से बाहर निकली तब उसके शरीर में केवल हड्डियाँ रह गई थीं। बड़ी मुश्किल से वह कहीं बची।

एक दूसरी बहन भयंकर बुखार लेकर बाहर निकली, जिसने थोड़े ही दिन बाद उसे परमात्मा के घर पहुँचा दिया। उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ? वालियामा अट्ठारह वर्ष की बालिका थी। मैं उसके

पास गया तब वह बिस्तर से उठ भी नहीं सकती थी। क़द ऊँचा था। उसका लकड़ी के जैसा शरीर डरावना मालूम होता था। मैंने पूछा—"वालियामा, जेल जाने पर पश्चात्ताप तो नहीं है?"

"पश्चात्ताप क्यों हो! अगर मुझे फिर गिरफ्तार करें तो मैं पुनः इसी क्षण जेल जाने को तैयार हूँ।"

"पर इसमें यदि मौत आ जाय तो?"

"भले ही आवे न! देश के लिए मरना किसे न अच्छा लगेगा?" इस बात चीत के कुछ ही दिन बाद वालियामा की मृत्यु हो गई। देह चला गया पर वह बाला तो अपना नाम अमर कर गई। इसकी मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए स्थान स्थान पर शोक सभायें हुईं, और कौम ने इस पवित्र देवी का स्मारक बनाने के लिए एक 'वालियामा हॉल' नामक भवन बनवाने का निश्चय किया। पर कौम ने इस हॉल को बनवा कर अपने धर्म का पालन अभी तक नहीं किया! उसमें कई विघ्न उपस्थित हो गये। कौम में फूट हो गई। मुख्य कार्य-कर्त्ता एक के बाद एक वहाँ से चले गये। पर वह ईंट-पत्थर का स्मारक बने, या न भी बने, वालियामा की सेवा का नाश नहीं हो सकता। इस सेवा का हॉल तो उसने स्वयं अपने हाथों से बना रक्खा है। आज भी उसकी वह मूर्त्ति कितने ही हृदयों में विराज रही है। जहाँ तक भारतवर्ष का नाम रहेगा तहाँ तक दक्षिण आफ्रिका के इतिहास में वालियामा का नाम भी अमर रहेगा।

इन बहनों का बलिदान विशुद्ध था। वे बेचारी कानून की बारीकियों को नहीं जानती थीं। उनमें से कितनी ही को देश का ख्याल तक नहीं था। उनका देश-प्रेम तो केवल श्रद्धा ही पर

निर्भर था। उनमें से कितनी ही निरक्षर थीं। अर्थात् समाचार पत्र तक नहीं पढ़ सकती थीं। पर वे जानती थीं कि कौम के मान-वस्त्र का हरण हो रहा है। उनका जेल जाना उनका आर्त्तनाद था, शुद्ध यज्ञ था। ऐसी शुद्ध हार्दिक प्रार्थना ही को प्रभु सुनते हैं। यज्ञ की शुद्धि ही में उसकी सफलता है। प्रभु तो भावना के भूखे हैं। भक्ति-पूर्वक अर्थात् निस्वार्थ बुद्धि से अर्पित की हुई फूल-पत्ती या पानी भी परमात्मा को प्रिय है। उसका सप्रेम स्वीकार कर वे उससे करोड़ों गुना फल देते हैं। सुदामा के मुट्ठी भर चाँवल के बदले में उसकी वर्षों की भूख भाग गई। अनेकों के जेल जाने से चाहे कोई फल न निकले, पर एक शुद्ध आत्मा का भक्ति-पूर्वक समर्पण किसी समय निष्फल नहीं हो सकता। कौन कह सकता है कि दक्षिण आफ्रिका में किसका किसका यज्ञ सफल हुआ? पर इतना तो हम जरूर जानते हैं कि वालियामा का बलिदान तो अवश्य ही सफल हुआ? वहनों का यज्ञ तो जरूर ही सफल हुआ।

स्वदेश यज्ञ में, जगत्-यज्ञ में असंख्य आत्माओं का बलिदान दिया गया है, दिया जा रहा है, और दिया जायगा। यही ठीक भी है। क्योंकि कोई नहीं जानता कि पूर्णरूपेण शुद्ध कौन है। पर सत्याग्रही इतना तो जरूर जानते हैं कि उनमें से यदि एक भी शुद्ध होगा तो उसका यज्ञ फलोत्पत्ति के लिए काफी है। पृथ्वी सत्य के बल पर टिकी हुइ है। 'असत्'—'असत्य' के मानी हैं "नहीं", 'सत्'—'सत्य' अर्थात "है" जहाँ असत् अर्थात् अस्तित्व ही नहीं है, उसकी सफलता कैसे हो सकती है? और जो सत्—अर्थात 'है' उसका नाश कौन कर सकता है। बस इसी में सत्याग्रह का समस्त शास्त्र समाविष्ट है।

सत्रहवां अध्याय

मजदूरों की धारा

बहनों के इस त्याग का मजदूरों पर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा। न्यू कॅसल के नजदीक की खानों के मजदूरों ने अपने हथियार फेंक दिये। उनका प्रवाह शुरू हुआ। समाचार मिलते ही फिनिक्स छोड़ कर मैं न्यू कॅसल पहुंचा।

ऐसे मजदूरों का अपना घर नहीं होता। मालिक ही उनके लिए घर बनाते हैं, मालिक ही उनके मार्गों को दीया-बत्ती से प्रकाशित रखते हैं, वे ही उन्हें पानी भी देते हैं। अर्थात् मजदूर हर तरह से पराधीन रहते हैं। और तुलसीदासजी ने तो कही दिया है कि

'पराधीन सपने हुँ सुख नाहीं'

ये हडताल वाले मजदूर मेरे पास कई प्रकार की शिकायतें ले कर आने लगे। कोई कहता 'खानों के मालिकों ने रास्ते पर की बत्तियों को उठा लिया है'। कोई कहता 'उन्होंने पानी बंद कर दिया है। कई कहते 'वे हडताल वालों का असबाब कमरों में से बाहर फेंक रहे हैं'। एक पठान ने मुझे अपनी पीठ दिखाते हुए कहा "यह देखिए, मुझे कैसे मारा है, सिर्फ आपके खातिर मैंने

उस बदमाश को छोड़ दिया है, क्योंकि यही आपका हुक्म है। नहीं तो मैं पठान हूँ, और पठान कभी मार नहीं खाता, स्वयं मारता है।" मैंने उत्तर दिया "भाई तुमने बहुत अच्छा काम किया, इसीको मैं सच्ची बहादुरी कहता हूँ; तुम जैसे लोगों के बल पर ही हम जीतेंगे।"

मैंने इस तरह उसे मुबारिकबादी तो दी, पर दिल में सोचा, यदि यही हाल अनेकों का हुआ तो हड़ताल कैसे चलेगी? मार की बात छोड़ दी जाय, तो फरियाद फिर और किस बात की करें? खानों के मालिक यदि हड़ताल करने वालों के लिए पानी, बत्ती इत्यादि सुविधायें न भी रहने दें, तो इसमें फरियाद के लिए कहाँ स्थान रह जाता है? जो हो, आखिर लोग इस स्थिति में कब तक रह सकते हैं? मुझे अवश्य ही कोई न कोई उपाय सोच लेना चाहिए। क्योंकि लोग लाचार हो कर फिर अपने अपने काम पर लौट जावें इसकी बनिस्बत तो ठीक यही होगा कि वे अभी से अपनी हार कुबूल कर लें और काम पर लौट जावें। पर लोग मेरे मुंह से यह सलाह कभी नहीं सुनेंगे। मार्ग केवल एक ही बचा। उन्हें मालिकों के दिये हुए कमरे छोड़ देना चाहिए। अर्थात् 'हिजरत' कर देनी चाहिए।

मजदूर पांच-पचीस नहीं, सैकड़ों थे। सैकड़ों से हजारों होने में भी देर नहीं थी। उनके लिए मैं मकान कहाँ से लाऊं? उनके खाने पीने का क्या प्रबंध करूं? भारतवर्ष से तो पैसे मांगना ही नहीं था। वहां होने वाली पैसों की वर्षा को अभी जरा देर थी। इधर दक्षिण आफ्रिका के भारतीय व्यापारी इतने डर गये थे कि जाहिरा तौर पर वे मेरी कोई सहायता करने के लिए तैयार नहीं थे। उनका

व्यापार तो खान के मालिकों और दूसरे गोरों के साथ ही था इसलिए खुल्लम खुल्ला वे मुझसे कैसे मिल सकते थे ? मैं जब कभी न्यू कॅसल जाता तब उन्हीं के यहाँ ठहरता था। पर इस बार दूसरी जगह पर उतरने का निश्चय करके स्वयं मैंने ही उनका मार्ग सरल कर दिया था।

पहले मैं यह बतला चुका हूँ कि ट्रान्सवाल से जो बहनें आई थीं वे द्राविड प्रान्त की थीं। वे एक द्राविड कुटुम्ब के यहाँ ठहरी थीं जो ईसाई था। यह कुटुम्ब मंझोले दर्जे का था। उसके एक छोटासा जमीन का टुकड़ा और दो तीन कमरे वाला एक छोटा-सा मकान था। इन्हींके यहाँ ठहरने का मैंने भी निश्चय किया। मालिक मकान का नाम लॅझरस था। गरीब को किसका डर हो सकता है ? ये सब मूलतः गिरमिटिया माता-पिता की प्रजा थे, इसलिए उनको और उनके सम्बन्धियों को भी तीन पौंड वाला कर देना पड़ता था। गिरमिटियाओं के दुःखों से तो वे पूरी तरह परिचित थे। इसलिए उनके साथ इनकी सहानुभूति होना भी स्वाभाविक ही था। इस कुटुम्ब ने मेरा सहर्ष स्वागत किया। मेरा स्वागत करना मित्रों के लिए आसान काम तो कभी रहा ही नहीं है। परन्तु इस बार तो वह और भी मुश्किल था। मेरा स्वागत करना मानों प्रत्यक्ष दरिद्रता, निर्धनता का स्वागत करना और शायद जेल को भी निमन्त्रण देना था। इस स्थिति में शायद ही कोई धनिक व्यापारी अपने को इस खतरे में डालने के लिए तैयार होता; और अपनी तथा उनकी परिस्थिति को इस तरह समझ लेने पर भी उन्हें ऐसी विकट परिस्थिति में डालना मेरे लिए सर्वथा अनुचित था। बेचारे लॅझरस को थोड़ासा वेतन ही खोने का डर था, और वह उसे बरदाश्त भी कर सकता था। उसे कोई कैद करना चाहे तो भले ही

करे पर वह अपने से भी गरीब गिरमिटियाओं के दुःखों को कैसे चुपचाप सह सकता था ? उसने अपने यहां इन गिरमिटियाओं की सहायता के लिए आई हुई बहनों को अपनी आँखों जेल में जाते देखा था। उसे मालूम हुआ कि उनके प्रति उसका भी कुछ कर्तव्य है, इसीलिए उसने मेरा भी स्वीकार किया। स्वीकार तो किया पर अपना सर्वस्व भी अर्पित कर दिया। क्योंकि उसके यहां मेरे जाने के बाद उसका घर एक धर्मशाला बन गया। सैकड़ों आदमी और हर तरह के आदमी आते जाते थे। उसके मकान के आसपास की जमीन आदमियों से खचाखच भर गई। चौबीसों घंटे उसके मकान पर रसोई होती रहती थी, जिसमें उसकी धर्मपत्नी ने तनतोड़ मिहनत की। और इतने पर भी जब कभी देखिए, तब वे दोनों हँसमुख ही नजर आते थे। उनकी मुखाकृति में मैंने अप्रसन्नता नहीं देखी।

पर लॅझरस भला कहीं सैकड़ों मजदूरों को खिला सकता था ? मजदूरों को मैंने समझा दिया कि उन्हें इस हड़ताल को हमेशा टिकनेवाली हड़ताल समझ कर अपने अपने मालिक के झोपड़ों को भी हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिए। उनके पास जो चीजें बेंचने लायक हों उन्हें बेंच दिया जाय। बाकी असबाब को वे अपनी खोलियों में भर कर रख दें। मालिक उसे हाथ नहीं लगावेगा। शायद अधिक दुश्मनी ठानने के लिए यदि वह उसे फेंक भी दे तो उन्हें यह भी बरदाश्त कर लेना चाहिए। मेरे पास वे अपने पह-नने के कपड़ों और ओढने के कम्बलों के सिवा और कुछ नहीं लायें। जहां तक हड़ताल टिकेगी और जबतक वे जेल से बाहर रहेंगे तबतक उन्हींके साथ रहने और उन्हीं के साथ साथ खाने

पीने का अपना निश्चय भी मैंने उन्हें सुना दिया। इन शर्तों पर यदि वे खानों से बाहर निकल सकते हों, तभी और केवल तभी, वे टिक सकेंगे और उनकी जीत भी हो सकेगी। ऐसा करने की जिसे हिम्मत न हो वह भले ही अपनी नौकरी पर लौट जाय। और इस तरह जो लौट जावे, उसका कोई तिरस्कार भी न करे, और न कोई उसे सतावे! मुझे ऐसा एक भी उदाहरण याद नहीं जिसमें इन बातों का किसी ने इनकार किया हो। मैंने उन्हें यह कहा उसी दिन से हिज़रत करने वाले घर-त्यागियों की कतारें आने लगीं। सभी अपने अपने बीवी-बच्चों को लेकर अपने सिर पर गठडियां रखकर आने लगे। मेरे सामने तो केवल ठहरने भर के लिए जमीन थी। सौभाग्यवश इन दिनों न तो कोई जाड़ा था और न बारिश ही थी।

मेरा विश्वास था कि खाने पीने की व्यवस्था के विषय में व्यापारी वर्ग पीछे कदम नहीं हटावेगा। न्यू कॅसल के व्यापारियों ने दाल और चांवल के बोरिये और खाना पकाने के लिए वर्तन भी भेज दिये। अन्य गांवों से भी दाल, चांवल, सब्जी, मसाले वगैरा की वर्षा होने लगी। मैं सोचता था उससे कहीं अधिक ये चीजें मेरे पास आने लग गई। जेल जाने के लिए भले ही सब तैयार न हों पर सहानुभूति तो सभी रख सकते थे न? सभी अपनी अपनी शक्ति के अनुसार सहायता देने के लिए तैयार थे। जिन की हालत कुछ देने-दिलाने लायक नहीं थी उन्होंने शारीरिक मिहनत द्वारा कौम के इस यज्ञ में सहायता की। इन अपढ़ अजान मनुष्यों को संभालने के लिए समझदार होशियार स्वयंसेवकों की आवश्यकता थी। वे भी मिलते गये, और उन्होंने अमूल्य

सहायता की। उनमें से अधिकांश तो गिरफ्तार भी कर दिये गये। इस तरह सभी ने यथाशक्ति सहायता की, जिससे हमारा मार्ग सरल हो गया।

मनुष्यों की संख्या बढ़ने लगी। इतने बड़े और प्रति क्षण बढ़ने वाले जनसमुदाय को एक ही स्थान पर बिना किसी उद्योग के रख छोड़ना यद्यपि अशक्य नहीं तो भयानक तो जरूर ही था। मलोत्सर्ग वगैरा की उनकी आदतें तो अच्छी होती ही नहीं। इस समुदाय में कितने ही ऐसे थे जो जुर्म करके जेल हो आये थे। कई तो खून के अपराधी भी थे। कई चोरी करने के अपराध में जेल यात्रा करके छूट कर आये हुए थे। हड़ताल करने वाले मजदूरों का मैं नीति के अनुसार विभाग तो हरगिज नहीं कर सकता था। भेद करना भी चाहूं तो सभी मुझे अपना भेद थोड़े ही बताने वाले थे। स्वयं मैं ही काजी बन बैठूं तो मुझे तो विवेक-हीन बनना पड़े। मेरा कार्य तो केवल हड़ताल का संचालन करना मात्र था। इसमें अन्य सुधारों को शामिल करने के लिए कोई अव-काश नहीं था। हां, छावनी में नीति की रक्षा करना जरूर मेरा काम था। वहाँ आने वाले लोग पहले कैसे थे, इसकी तलाश करना मेरा काम नहीं था। इतना बड़ा समुदाय एक ही जगह बैठा रहे तो जरूर ही कुछ न कुछ खुरापात खड़ी होती रहे। और वास्तव में चमत्कार तो यही था कि इतने दिन शांति से कैसे बीत गये? वे सब इस कदर शांति पूर्वक रहे, मानों वे अपना आपद्धर्म समझ गये हों।

मुझे उपाय सूझा! इनको भी उन १६ मनुष्यों की तरह ट्रान्स-वाल ले जाकर जेल में बैठा दूं। पहले पहल यह विचार हुआ कि

इनकी छोटी छोटी टुकड़ियां बना लूं और फिर एक एक टुकड़ी को सरहद लाँघने के लिए भेजूं, पर फौरन ही मैंने इस विचार को पलट लिया। इससे बहुतसा समय नष्ट होने की सम्भावना थी। दूसरे, एक सामुदायिक कार्य का जो असर होता है,वह एक एक टुकड़ी भेजने से नहीं हो सकता।

मेरे पास लग-भग पांच हजार मनुष्य इकठ्ठा हुए होंगे। उन सब को ट्रेन से नहीं ले जा सकता था। इतने रुपये भी मैं कहां से लाता? फिर इससे लोगों की परीक्षा भी नहीं हो सकती थी। न्यू कॅसल से ट्रान्सवाल की सरहद ३६ मील थी। नाताल का सरहदी गांव चार्लस् टाऊन था, और ट्रान्सवाल का वॉकसरेस्ट। अंत में पैदल ही सफर करने का निश्चय किया। मजदूरों के साथ भी सलाह की। उनमें स्त्रियां, बच्चे, वगैरा भी थे। कितने ही टाल मटूल कर गये। हृदय को कठोर करने के सिवा मेरे पास और कोई उपाय ही नहीं था। मैंने उन्हें कह दिया कि जो वापिस खानों पर जाना चाहते हों वे जा सकते हैं। पर लौट जाने को कोई तैयार नहीं थे। जो पंगु थे उन्हें ट्रेन से भेजने का निश्चय हुआ। शेष सब चार्लस् टाऊन तक पैदल चलने को तैयार हो गये। रास्ता दो दिन में तय करना था। इससे तो सभी प्रसन्न हो गये। लोगों ने सोचा कि बेचारे लॅझरस कुटुम्ब को भी कुछ विश्रान्ति मिलेगी। इधर न्यू कॅसल के गोरों को हैजे का भय था, इसलिए वे जो कुछ इन्तजाम करने वाले थे उससे वे मुक्त हो गये, और हम भी तो उनके उस इन्तजाम के भय से मुक्त हो गये।

कूच की तैयारी कर ही रहे थे कि खान के मालिकों का निमन्त्रण आया। मैं डरबन पहुँचा। पर अब यह किस्सा अगले प्रकरण में

अठारहवां अध्याय

खानों के मालिकों से बात-चीत और उसके बाद

खानों के मालिकों के निमन्त्रण के अनुसार मैं उनके पास डरबन गया। मैं समझा कि मालिकों पर कुछ प्रभाव पड़ रहा है। पर मुझे यह विश्वास नहीं था कि इस मुलाकात से कोई नतीजा निकलेगा। पर सत्याग्रही तो असीम नम्र होता है। समझौते का एक भी अवसर वह अपने हाथों से नहीं खोता। इससे यदि कोई उसे भीरु भी कहे तो वह उसकी परवा नहीं करता। जिसके हृदय में विश्वास है. और विश्वास से पैदा होने वाला बल है. वह दूसरों द्वारा की गई अपनी अवगणना पर अफसोस नहीं करता। वह तो अपने आंतरिक बल पर ही निर्भर रहता है। इस तरह सब के साथ नम्रता पूर्वक रह कर वह तो संसार की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है और उसे अपने काम की तरफ आकर्षित कर लेता है।

इसलिए मालिकों का निमन्त्रण मुझे स्वागत करने योग्य मालूम हुआ। मैं उनके पास पहुँचा। मैंने देखा कि वायुमण्डल संक्षुव्ध है। मामले को मुझसे समझ लेने के बदले उनके प्रतिनिधि ने उलटे मुझी को जांचना शुरू किया। उसके प्रश्नों के मैंने यथोचित उत्तर दिये। और उनसे कहा "यह हडताल बंद करना आपके हाथों में है।"

"हम कहीं अधिकारी तो हैं नही" उनकी तरफ से कहा गया।

मैं—"आप अधिकारी न होते हुए भी बहुत कुछ कर सकते हैं। आप मजदूरों का पक्ष ले कर झगड सकते हैं। मैं इस बात को नहीं मानता कि यदि आप सरकार से तीन पौंड के कर को रद करने के लिए कहें तो वह आप की बात को स्वीकार नहीं करेगी। आप दूसरों को अपने अनुकूल बना सकते हैं।"

"पर सरकार द्वारा मंजूर किये गये कर के साथ हडताल का क्या सम्बन्ध है? मालिक यदि मजदूरों को कष्ट दे रहे हों तो आप कानून के अनुसार उनसे दरख्वास्त करें।"

सिवा हडताल के मुझे और कोई ऐसा उपाय नहीं दिखाई देता, तीन पौंड वाला कर भी तो मालिकों के खातिर ही मजदूरों पर लदा गया है। मालिक मजदूरों की मजदूरी तो चाहते हैं, पर उनकी स्वतंत्रता नहीं चाहते। इसलिए इस कर को दूर करने के लिए मैंने यह जो हडताल रूपी शस्त्र उठाया है, इसमें मुझे जरा भी अनीति अर्थात् मालिकों के प्रति अन्याय नहीं दिखाई देता।"

"तो फिर आप मजदूरों को काम पर लौट जाने के लिए नहीं कहेंगे?"

"मैं लाचार हूँ।"

"इसके परिणाम का भी आप को ख्याल है?"

"मैं सावधान हूँ। अपनी जिम्मेदारी का मुझे पूरा ख्याल है।

"ठीक तो है, इसमें आपकी क्या हानि है? पर इन भोले-भाले मजदूरों की जो हानि होगी, क्या इसकी भरपाई आप कर देंगे।"

"मजदूरों ने समझ बूझ कर और हानि-लाभ का पूरा हिसाब लगा लेने पर ही यह हडताल शुरू की है। आत्म-सम्मान की

हानि से किसी हानि को मैं बड़ी नहीं समझ सकता, और मुझे संतोष है कि मजदूर भी इस बात को समझ गये हैं"

इस तरह की बात-चीत हुई। संभाषण की प्रत्येक बात इस समय तक मुझे याद नहीं रह सकती। जो खास खास बातें मुझे याद रह गईं, वे मैंने संक्षेप में ऊपर कह दी हैं। यह तो मुझे मालूम हो गया कि मालिकों को अपनी केस कमज़ोर मालूम होने लग गई। क्योंकि सरकार के साथ तो उनकी बात चीत चल ही रही थी।

जाते और लौटते समय मैंने देखा कि ट्रेन के गार्ड वगैरा पर इस हड़ताल का और जनता की शान्ति का बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा था। मैं तो तीसरे दर्जे में ही सफर करता था। पर वहाँ भी गार्ड वगैरा अधिकारी लोग मुझे घेर कर चिंता के साथ सब हकीकत, पूछ लेते और विजय की इच्छा जाहिर करते। अनेक प्रकार की छोटी मोटी सुविधायें मेरे लिए कर देते। पर मैं उनके साथ अपने सम्बन्ध को हमेशा निर्मल रखता। एक भी सुविधा के लिए मैं उन्हें किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं दिखाता। अपनी इच्छा से वे जो विनय दिखाते वही मुझे पसंद था। विनय को खरीदने का प्रयत्न तो मैंने कभी किया ही नहीं। गरीब, अपढ अज्ञानी मजदूरों को इस तरह शांत रहते हुए देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य मालूम हुआ। और यह ठीक भी था। दृढता और बहादुरी ऐसे गुण हैं कि जिनका प्रभाव विरोधियों पर भी विना पड़े नहीं रहता।

मैं पुनः न्यू कॅसल पहुंचा। लोगों का प्रवाह तो उसी तरह वहा जा रहा था। सब बातें उन्हें खोल खोलकर समझा दी गईं। यह भी पुनः कह दिया कि यदि वे लौट जाना चाहते हों तो लौट सकते हैं। मालिकों की धौंस की बात भी कही। भावी विपत्तियां

का भी चित्र खींच कर बता दिया और चेता दिया कि लड़ाई कब समाप्त होगी इसका कोई ठिकाना नहीं। जेल के दुःख समझाये, सब कुछ समझाया पर वे अपने निश्चय से नहीं हटे। "आप जब तक लड़ने के लिए तैयार हैं, तब तक हम भी अपना कदम पीछे नहीं हटावेंगे। हमें कष्टों का पूरा ख्याल है हमारी चिंता न कीजिएगा" इस तरह का निर्भय उत्तर मुझे मिला।

अब तो सिर्फ आगे कूच करना रहा। एक दिन सुबह जल्दी उठकर कूच करने के लिये मैंने उन्हें कह दिया। राह पर चलते हुए जिन नियमों का पालन करना चाहिए वे भी समझा दिये पांच छः हजार के समुदाय को समझा कर रखना कोई मामूली बात नहीं था। उनकी गिनती तो मेरे पास थी ही नहीं, और न थे नाम ठाम। जो रहे सो रहे, और गये सो गये। यही हिसाब किताब था। प्रत्येक आदमी को २॥ पाव रोटी और २॥ रुपये भर शक्कर के सिवा अधिक खुराक देने की गुंजाइश भी नहीं थी। इसके अतिरिक्त यह कह रक्खा था कि यदि राह में भारतीय व्यापारी कुछ देंगे तो ले लूगां। पर उन्हें रोटी और शक्कर पर ही संतुष्ट रहना चाहिए। बोअर युद्ध और उसके बाद हबसियों के युद्ध में मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ था उसने इस समय खूब काम दिया। आवश्यकता से अधिक कपड़े न रक्खे जायँ यह तो शर्त ही थी। रास्ते में किसी की चीज को हाथ न लगाया जाय। अधिकारी लोग या अंगरेज रास्ते में मिलें, गालियां दे, और पीटें भी तो सब बरदाश्त कर लिया जाय। यदि कैद करें तो चुप चाप अपने आप को सौंप दिया जाय। यदि मैं पकड़ा जाऊं तो भी तो लोग उसी तरह कूच करते हुए चले जाएँ, रास्ते में कहीं न रुकें,

इत्यादि सब बातें समझा दी गई थीं। यह भी समझा दिया गया था कि मेरी अनुपस्थिति में क्रमशः कौन कौन मेरा स्थान ले, और काम शुरू रक्खे।

लोग समझ गये। समुदाय सहीसलामत चार्लस् टाऊन जा पहुंचा। चार्ल्स-टाऊन में व्यापारियों ने खूब सहायता की। अपने मकान ठहरने के लिए खोल दिये। मस्जिद के आहते में रसोई पकाने के लिए सुविधा कर दी। कूच के लिए जो खुराक दिया जाता था उसका उपयोग स्थायी मुकाम पर तो हो ही नहीं सकता था। इसलिए खाना पकाने के लिए बरतनों की भी आवश्यकता हुई। यह सब उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक दिया। चांवल वगैरा तो मेरे पास पहले ही से बहुत इकट्ठा हो गये थे। पर फिर भी व्यापारियों ने अपनी तरफ से और दे दिये।

चार्ल्स टाऊन एक छोटासा गांव था। इस समय उसकी जन संख्या मुश्किल से चार पांच हज़ार होगी। उसमें इतने मनुष्यों का समावेश होना कठिन था। बच्चों और स्त्रियों को ही मकानों के अंदर रक्खा। कितनों ही को तो मैदान में भी ठहरा दिया गया था।

यहां की कितनी ही स्मृतियां तो मधुर हैं, और कितनी ही कड़ुवी भी। मधुर स्मरण सब से पहले चार्लस् टाऊन के आरोग्य-विभाग और उसके अधिकारियों से सम्बन्ध रखते हैं। जन-संख्या को इतनी बढ़ी हुई देख कर वे घबड़ा गये। पर उन्होंने पहले ही से कड़क उपायों का अवलम्बन नहीं किया। सब से पहले आकर वे मुझ से मिले स्वच्छता तथा आरोग्य विषयक कितनी ही सूचनायें करके उन्होंने मुझे सहायता करने का

अभिवचन भी दिया। यूरोप के लोग तीन बातों में जितने साव-धान रहते हैं, उतने हम नहीं रहते। उन्होंने कहा कि स्वच्छता, तथा रास्ते और पाखानों की स्वच्छता, का मुझे विशेष ख्याल रखना चाहिए। जहां तहां लोग पानी नहीं डालने पावें पेशाब का भी एक निश्चित स्थान हो। कूड़ा-कचरा भी लोग हर कहां न डालने पावें, उसका भी एक निश्चित स्थान हो। जहां वे बतावें, वहीं मैं लोगों को रखूं और वहां की स्वच्छता के लिए मैं जिम्मेदार रहूं। यह सब मैंने उनके प्रति अपनी एहसानमन्दी जाहिर करते हुए कबूल कर लिया। और मुझे पूरी शांति हुई।

हमारे मनुष्यों के द्वारा इन नियमों का पालन कराना महा कठिन है। पर उन लोगों ने और मेरे साथियों ने मेरे लिए इस काम को आसान कर दिया। मेरा यह हमेशा का अनुभव है कि सेवक हुक्म न करे, बल्कि सेवा ही करे तो बहुत कुछ काम हो सकता है। सेवक यदि अपने शरीर को जरा भी कष्ट देगा तो दूसरे लोग भी ऐसा ही करने लग जावेंगे। इस बात का पूरा अनुभव मुझे उस छावनी में प्राप्त हुआ। मैं और मेरे साथी झाड़ना बुहारना, मैला उठाकर फेंकना आदि काम करते हुए जरा भी नहीं हिचकते थे। इसलिए दूसरे लोग उसी काम को खुशी खुशी करने लग जाते थे। यदि हम ऐसा न करते तो आखिर हुकूमत भी किस पर करते? सभी सरदार बन कर दूसरों पर हुकूमत करने लगते तो कुछ भी काम न होता। पर जब स्वयं सरदार ही सेवक बन जाता है तब तो दूसरे लोग सरदारी का दावा किस तरह कर सकते हैं?

साथियों में से कैलन बेक आपहुंचे थे। मिस स्लेशीन भी

हाजिर हो गई थीं। इस महिला की मिहनत, चिंताशीलता, और प्रामाणिकता की जितनी तारीफ़ की जाय थोड़ी ही है। भारतीयों में तो सिर्फ स्वर्गीय पी. के. नायडू और क्रिस्टॉफर के नाम ही इस समय याद आ रहे हैं। और भाई भी थे, जिन्होंने खूब मिहनत करके सहायता की थी।

भोजन में भात और दाल दी जाती थी। सबजी भी खूब मिल जाती थी। पर उसे अलग पकाने के लिए एक तो बर्तन नहीं थे, दूसरे, उतना समय भी तो चाहिए। चौबीसों घंटे खाना पकता रहता। क्योंकि भूखे-प्यासे आदमी आते ही रहते थे। न्यू कॅसल में किसी के ठहरने की जरूरत ही नहीं थी। रास्ता सभी को मालूम था। इसलिए हरएक आदमी खान से निकलते ही सीधा चार्लस् टाऊन आ पहुंचता।

जब मैं मनुष्य के धीरज और सहनशीलता पर विचार करता हूं, तब मेरे सामने परमात्मा की महिमा खड़ी हो जाती है। खाना पकाने वालों में मुखिया मैं था। कभी दाल में पानी ज्यादह हो जाता, तो कभी वह गलती ही नहीं थी। कभी साग कच्ची रहती तो कभी भात बिगड़ जाता। मैंने संसार में ऐसे बहुत से लोग नहीं देखे जो हंसते हंसते ऐसा भोजन कर लेते हैं। इसके विपरीत दक्षिण आफ्रिका की जेल में मैंने यह अनुभव भी प्राप्त कर लिया है कि जरा ही थोड़ा, देर से, या कच्चा खाना मिलने पर अच्छे अच्छे शिक्षित समझे जाने वाले का भी मिजाज बिगड़ जाता था।

खाना पकाने की बनिस्पत परोसने का काम अधिक कठिन था। वह तो मेरे अधीन ही रह सकता था। कच्चे पक्के भोजन का हिसाब तो मुझ को ही देना पड़ता। कभी कभी आदमी बढ़ जाते तब

स्वभावतः सामग्री कम हो जाती। तो ऐसे मौकों पर भोजन थोड़ा थोड़ा बांट कर मुझी को लोगों को समझाना पड़ता था। कम भोजन मिलने पर बहनें मेरी ओर उलहने की नजर से देखने लगतीं, और मेरा हेतु समझते ही हंसती हुई चल देतीं। वह दृश्य मैं अपने जीवन में कभी नहीं भूल सकता। मैं कह देता "मैं तो लाचार हूं। मेरे पास पकाया हुआ अन्न तो थोड़ा है, और लेने वाले बढ़ गये। इसलिए अब मुझे इसी तरह देना चाहिए, जिससे थोड़ा थोड़ा सभी को पहुंच जाय" यह सुनते ही वे 'संतोपम्' कह कर रवाना हो जातीं।

ये तो सब हुए मधुर संस्मरण। कुछ कड़वी स्मृतियां भी थीं। आदमी जरा भी निकम्मा रहा कि झगड़े—बखेड़े, और इससे भी खराब—व्यभिचार—के उद्योग करने लग जाता है। स्त्री पुरुषों को तो एक साथ ही रखना पड़ता। समुदाय भी थोड़ा न था। व्यभिचारी को लज्जा कहां से हो? पर ऐसे उदाहरणों में मैं जल्दी जा पहुंचता और वे शरमिंदे हो जाते। फिर ऐसे लोगों को अलग भी रखता। पर उन उदाहरणों की कौन गिनती लगा सकता है जो मेरी अनजान में गुजर चुके होंगे। किन्तु इस वस्तु का अधिक वर्णन करना व्यर्थ है। मैंने तो केवल यह बतलाने के लिए इन बातों का जिक्र किया है कि वह सब काम इतना आसान नहीं था। साथ ही इससे यह जाहिर होता है कि इतना करने पर भी कोई उद्धतता पूर्वक मुझ से पेश नहीं आता था। नीति—अनीति का भेद न जानने वाले निरे जंगली जैसे लोग भी अच्छे वायुमण्डल में आते ही कितनी अच्छी तरह वरतने लग जाते हैं यह मैंने ऐसे कई मोकों पर देखा है। और यही जान लेना अधिक आवश्यक और फायदेमन्द भी है।

उन्नीसवां अध्याय

ट्रान्सवाल में प्रवेश

इस समय हम १९१३ के नवम्बर महीने के आरम्भ में हैं। कूच करने से पहले की दो घटनाओं का उल्लेख कर देना जरूरी है। न्यू कॅसल में द्राविड बहनों को जेल जाते देख कर बाई फातमा महेताव से न रहा गया। वह भी अपनी मां और सात वर्ष के बच्चे को लेकर जेल जाने के लिए निकल पड़ी। मां-बेटी तो गिरफ्तार हो गई, पर सरकार ने बच्चे को अंदर लेने से साफ इन्कार कर दिया। पुलिस ने बाई फातमा की उंगलियों की छाप लेने की खूब कोशिश की। पर वे निडर रहीं। और आखिर तक उन्होंने पुलिस को अपनी उंगलियों की छाप नहीं दी।

इस समय हडताल पूरे जोर में थी। पुरुषों की तरह उसमें स्त्रियां भी शामिल होती जा रही थीं। उनमें दो मातायें अपने बच्चों को साथ में लिये हुए थीं। एक बच्चे को कूच में जाडा हो गया और वह मृत्यु की गोद में जा सोया। दूसरी का बालक एक नाला पार करते हुए गोद में से पानी में गिरकर डूब गया। पर माता निराश नहीं हुई। दोनों ने अपनी कूच को उसी प्रकार शुरू रक्खा। एक ने कहा:—"हम मरे हुओं का शोक करके क्या

करेंगी? इससे वे कहीं लौट कर थोड़े ही आ सकते हैं। हमारा धर्म तो है जीवितों की सेवा करना।" उस शांत वीरता के, ऐसी असीम आस्तिकता के, और अगाध ज्ञान के कई उदाहरण मैंने उन गरीबों में देखे।

इसी दृढता पूर्वक चार्ल्स टाउन में स्त्री-पुरुष अपने कठिन धर्म का पालन कर रहे थे। पर हम चार्ल्स टाउन में कहां शांति के लिए नहीं आये थे। जिसे शांति की जरूरत हो, भीतर से प्राप्त कर ले बांहर तो जहाँ देखिए—यदि देखना याद हो–तहाँ वड़े वड़े अक्षरों में यही लिखा हुआ नजर आता है कि "यहाँ शांति नहीं मिल सकती। पर इसी अशांति के वीच, मीरावाई जैसी भक्त अपने मुंह को विष का प्याला लगाते हुए हंसती है। इसी अशांति के वीच अपनी अंधेरी खोली में वैठकर सुकरात हाथ में हलाहल का कटोरा लेकर अपने मित्र को गूढ़ ज्ञान का उपदेश करता है, और कहता है जिसे शांति की आवश्यकता हो वह अपने हृदय में उसे ढूंढ ले।

उस अलौकिक शांति के बीच सत्याग्रहियों का वह मस्ताना दल पड़ाव डाल कर पड़ा हुआ था। इस वात की उसे कोई चिंता तक नहीं थी कि कल सुवह क्या होगा। मैंने तो सरकार को लिख दिया था कि हम ट्रान्सवाल में निवास करने के हेतु से प्रवेश करना नहीं चाहते। हमारा प्रवेश तो वह सक्रिय पुकार है जो हम सरकार के वचन-भंग के उत्तर में उठाना चाहते हैं। हमारा प्रवेश तो उस दुःख का शुद्ध चिन्ह है, जो हमारे आत्म-संमान की हानि से हमारे हृदय में हो रहा है। यदि आप हमें यहीं चार्ल्स टाउन में ही गिरफ्तार कर लेंगे तो हम निश्चिन्त हो जावेंगे। यदि ऐसा

आप न करेंगे और हममें से कोई चुपचाप शान्ति पूर्वक ट्रान्सवाल में प्रवेश कर लेंगे तो इसके लिए हम जवाब देह नहीं है। हमारे युद्ध में छिपाने योग्य कुछ नहीं। इसमें किसी का व्यक्तिगत स्वार्थ भी नहीं है। यदि कोई दब छिप कर भी प्रवेश करेगा तो हमें वह प्रिय न होगा। पर जहाँ हजारों आदमियों से काम लेना है, जहाँ प्रेम के सिवा अन्य कोई बंधन नहीं है, तहाँ हम किसी के कार्य के लिए जिम्मेदार नहीं हो सकते। साथ ही आप इतना भी जान लें कि यदि तीन पौंड वाला कर आप उठा लेंगे तो तमाम गिरमिटिया पुनः अपने काम पर लौट आवेंगे और हड़ताल समाप्त हो जायगी। भारतीयों के अन्य दुःखों को दूर करने के लिए हम उन्हें अपने सत्याग्रह में शामिल नहीं करेंगे।

इस पत्र के कारण भी स्थिति बड़ी अनिश्चित हो गई थी। इसका कोई ठिकाना न था कि सरकार हमें कब गिरफ्तार कर लेगी। पर ऐसी हालत में सरकार के उत्तर की प्रतीक्षा दिनों तक नहीं की जा सकती थी। एक या दो डांक की राह देखी जा सकती थी। इसलिए हमने निश्चय कर लिया कि यदि सरकार यहीं हमें गिरफ्तार न करे तो फौरन ट्रान्सवाल में प्रवेश कर दिया जाय। यदि रास्ते में भी वह हमें कहीं न पकड़े तो प्रति दिन २० से लेकर २४ मील तक की सफर समुदाय आठ दिन तक करता रहे। आठ दिन में टॉल्स्टॉय फार्म पर पहुंचने की योजना थी। यह भी विचार लिया था कि बाद में युद्ध की समाप्ति तक वहीं पर सब रहें और काम करके अपनी आजीविका पैदा करें। मि० कैलनबेक ने सभी व्यवस्था कर रक्खी थी। इन्हीं लोगों के द्वारा वहां मिट्टी के मकान बनवा लेने का निश्चय कर लिया गया था। तब

तक छोटे छोटे डेरे लगा कर दुबले पतले आदमियों को उनमें रखने का विचार था। हट्टे कट्टे स्त्री-पुरुष तो बाहर भी पड़े रह सकते थे। कठिनाई सिर्फ यही थी कि बारिश का मौसम शुरू होने को था, इसलिए वर्षा ऋतु में तो सबको आसरा होना जरूरी ही था। पर मि० कैलनबैक को विश्वास था कि तब तक यह सब हो जायगा।

समुदाय की कूच की अन्य तैयारियां भी कर ली गईं। चार्ल्स टाउन के डॉक्टर सज्जन पुरुष थे। उन्होंने ऐसी दवाओं की एक छोटीसी संदूक मुझे दे दी थी, जो रास्ते में उपयोगी हो सकती थी। अपने कई शस्त्र भी दे दिये थे जिनसे मेरे जैसा आदमी भी काम ले सके। यह संदूक स्वयं हमीं उठा कर ले जाते थे। क्योंकि दल के साथ कोई सवारी वगैरा तो रखना ही नहीं था। इससे पाठक जान सकते हैं कि उसमें दवाइयां कितनी कम थीं। इतनी भी नहीं थी कि वे एक साथ सौ आदमियों को काम दे दें। इसका कारण तो यही था कि प्रति दिन शाम को हमें किसी न किसी छोटे गांव के नजदीक अपना पड़ाव डालना पड़ता था। इसलिए कोई औषधि समाप्त होते ही फौरन नयी ले ली जा सकती थी। दूसरे, हम अपने साथ में एक भी मरीज या पंगु आदमी को नहीं रखते थे। उसे तो राह में ही छोड़ते चले, जाते थे।

खाने के लिए सिवा रोटी और शक्कर के और क्या मिल सकता था! पर उस रोटी को भी तो आठ दिन तक हम कैसे रख सकते थे। मिले उसे तो प्रति दिन लोगों को बाँटना पड़ता था। इसका उपाय तो केवल यही हो सकता था कि हर मंजिल पर हमें कोई रोटियां भेज दिया करे। पर यह करे कौन? भारतीय बवर्ची

तो थे ही नहीं। फिर प्रत्येक गांव में इस तरह के डबल रोटी बनाने वाले भी नहीं होते। देहात में शहरों से रोटियां जाती हैं। यदि बवर्ची रोटी बराबर तैयार कर दिया करे और रेल वाले ठीक समय उसे पहुंचा दिया करें तभी तो यह मिल सकती थी। चार्ल्सटाउन की अपेक्षा वाकसरेस्ट (ट्रान्सवाल का सरहदी गांव, जो चार्लस टाउन से नजदीक था) एक बड़ा गांव था। वहां बेकर की एक बड़ी दूकान थी। उसने प्रसन्नता पूर्वक हमें रोटियां पहुंचाने का काम अपने जिम्मे ले लिया। हमारी कठिनाई को देखकर बाजार भाव से अधिक पैसे लेने की कोशिश भी उसने नहीं की। रोटियां भी अच्छे आटे की देता रहा। रेलवे पर वह समय पर रोटी भेज देता और रेल वाले भी—ये भी तो गोरे ही थे—प्रामाणिकता पूर्वक हमारे पास पहुंचा देते। इतना ही नहीं बल्कि इस काम में वे विशेष सतर्क भी रहते थे। उन्होंने हमारे लिए कितनी ही सुविधायें भी कर दीं। वे जानते थे कि किसी से हमारी दुश्मनी नहीं थी, और न किसी को कोई हानि पहुंचाने का हमारा उद्देश्य था। हमें तो दुःख सहकर भी अपने अन्याय की पुकार उठानी थी। इसलिए हमारे आस पास का वायुमण्डल भी इसी तरह शुद्ध हो गया और हो रहा था। मनुष्य-जाति का प्रेम भाव प्रकट हुआ। सब ने यही अनुभव किया कि हम सब इसाई, पारसी, मुसलमान हिन्दू यहूदी इत्यादि भाई भाई ही हैं।

इस तरह कूच की तैयारी होते ही मैंने फिर समझौते की कोशिश की। पत्र तार वगैरा तो भेज ही चुका था। यह तो मैं जानता था कि मेरा अपमान तो वे करें ही गे, पर मैंने यही निश्चय किया कि अपमान करें भी तो भले ही करते रहें, मुझे एकबार कम

से कम टेलीफोन से तो बात चीत कर ही लेनी चाहिए। चार्लस टाउन और प्रिटोरिया के बीच टेलिफोन था। जनरल स्मट्स को मैंने टेलीफोन किया। उनके सेक्रेटरी से कहा जनरल स्मट्स से कहिए कि "कूच करने की तमाम तैयारियां मैंने करली हैं। वॉक्स-रेस्ट के लोग उत्तेजित हो गये हैं। संभव है, वे हमारी जान को भी हानि पहुंचायें। कम से कम ऐसा करने की धमकी तो उन्होंने हमें अवश्य ही दी है। शायद यह तो जनरल स्मट्स भी नहीं चाहते होंगे। यदि वे तीन पौंड का कर उठा लेने का वचन दे सकते हों तो मैं कूच नहीं करूंगा। महज कानून का भंग करने ही पर हम तुले हुए नहीं हैं। मैं इस समय लाचार हूं। क्या इस समय वे मेरी इतनी सी बात को नहीं सुनेंगे ?" आधी मिनिट में उत्तर मिला "जनरल स्मट्स आपके साथ कोई सम्बन्ध रखना नहीं चाहते"। आपका जी चाहे सो करिए"। टेलीफोन बंद !

पर यह अकल्पित बात नहीं थी। हां मैंने इस रूखेपन की आशा जरूर नहीं की थी। क्योंकि सत्याग्रह के बाद मेरा उनका कोई छः वर्ष का राजनैतिक सम्बन्ध हो गया था। इसलिए मैं शिष्टतापूर्ण उत्तर की उमीद कर रहा था। पर उनकी शिष्टता से मैं फूल के कुप्पा तो नहीं हो जाता। उसी प्रकार न इस अशिष्टता से मैं जरा भी शिथिल हुआ। मेरे कर्तव्य की सरल रेखा मेरी आंखों के सामने स्पष्टतया दीख पड़ती थी। दूसरे दिन निश्चित समय पर हमने प्रार्थना की और परमात्मा के नाम पर कूच भी कर दी। उस वक्त मेरे साथ २०२७ पुरुष, १२७ स्त्रियां और ५७ बच्चे थे।

बीसवां अध्याय

ट्रान्सवाल में प्रवेश (चलू)

इस प्रकार वह यात्रियों का समुदाय, काफिला या संघ, जो चाहे कहिए, निश्चित समय पर चल पड़ा। चार्ल्स टाउन से एक मील की दूरी पर वाकसरेस्ट का बुगदा था। इसको पार करते ही मनुष्य वॉक़सरेस्ट अथवा ट्रान्सवाल में पहुंच जाता है। इस बुगदे के उस-पार घुडसवार पुलिस खड़ी थी। सब से पहले मैं उसके पास गया। लोगों को समझा दिया गया था कि जब मैं उधर से इशारा करूं तो वे फौरन बुगदे को पार कर जायं। पर अभी मैं पुलिस से बात चीत कर ही रहा रहा था कि, लोग तो आगे घुस कर बुगदे को पार कर चले आये। घुडसवार उनके सामने हो गये। पर वह समुदाय इस तरह रुकने वाला नहीं था। पुलिस हमें पकड़ना तो चाहती ही नहीं थी। मैंने लोगों को शांत किया, और उन्हें समझाया कि वे एक कतार में हो कर चले। पांच सात मिनिट में सभी शांत हो गये और अब ट्रान्सवाल में कूच करना आरम्भ किया।

वॉकसरेस के लोगों ने दो दिन पहले ही सभा की थी उसमें अनेक प्रकार का डर बताया गया था। कितनों ही ने तो यह कहा

था कि यदि भारतीय ट्रान्सवाल में प्रवेश करेंगे तो हम उन पर गोलियां चला देंगे। इस सभा में मि० कैलनबेक गोरों को समझाने के लिए गये थे। पर उनकी बात कोई सुनना ही नहीं चाहता था। कई तो उन्हें मारने के लिए उठ खड़े हो गये। मि० कैलनबेक स्वयं कसरती जवान हैं। सैडों से उन्होंने कसरत सीखी थी। उनको यों डराना मुश्किल था। एक गोरे ने उन्हें द्वंद्व युद्ध के लिए आह्वान किया। मि० कैलनबेक ने कहा "मैंने शांति धर्म का स्वीकार किया है। इसलिए आपकी इच्छा की पूर्ति करने में मैं असमर्थ हूं। पर मुझपर जिसे प्रहार करना हो, वह सुखपूर्वक करे, मैं तो इस सभा में बोलता ही रहूंगा। आपने इसमें सभी गोरों को निमन्त्रित किया है। मैं आपको यह सुनाने के लिए आया हूं कि आपकी तरह सभी गोरे निर्दोष मनुष्यों को मारने के लिए तैयार नहीं है। एक ऐसा गोरा है, जो आपसे कह देना चाहता है कि आप भारतीयों पर जिन बातों का आरोप करते हैं, वे असत्य हैं। आप जो सोच रहे हैं वह भारतीय नहीं चाहते। उन्हें न तो आपके राज्य की आवश्यकता है और न वे आपके साथ लड़ना चाहते है। वे आपके मुल्क को भारतीयों से भर देना भी नहीं चाहते हैं। वे तो शुद्ध न्याय के लिए पुकार उठा रहे हैं। ट्रान्सवाल में हमेशा रहने के हेतु से वे प्रवेश नहीं कर रहे हैं, बल्कि उनपर जो अन्याय पूर्ण कर लादा गया है उसके खिलाफ सक्रिय पुकार उठाने के उद्देश से वे यह कर रहे हैं। वे बहादुर हैं, हुलड़बाज नहीं। वे आपके साथ लड़ेंगे नहीं, पर यदि आप उनपर गोलियां चलावेंगे तो उनको सहकर भी वे इसी तरह आगे बढ़ते जावेंगे। आपकी बंदूकों या बल्लम के डर से वे पीछे पैर नहीं हटावेंगे। वे तो

स्वयं दुःख सह कर आपके हृदय को पिघला देने वाले लोग हैं। बस यही कहने के लिए मैं यहां आया हूं। यह कह कर मैंने तो आपकी सेवा ही की है। आप सावधान हो जाइए और अन्याय से बचिए" इतना कह कर मि० कैलनबेक शांत हो गये। गोरे कुछ शरमा गये। वह द्वंद्व करने वाला कसरती जवान तो अब उनका मित्र हो गया।

पर उपर्युक्त सभा की खबर हमें मिल चुकी थी। इसलिए ऐसे मौके के लिए भी हम तैयार थे। इतनी पुलिस को बुलाकर खड़ी कर रखने से चाहे यह मतलब भी हो सकता था कि गोरों को उपद्रव करने से रोका जाय। जो हो, हमारा जुलूस तो शांति पूर्वक जा रहा था। मुझे तो याद है कि किसी गोरे ने ज़रासी खुरापात तक नहीं की। सभी इस नवीन आश्चर्य को देखने के लिए बाहर निकल पड़े थे। उनमें से कितनों ही की आँखों में मित्रता झलकती थी।

हमारा पहले दिन का मुकाम ऐसे एक स्टेशन पर था जो वहां से आठ मील के फासले पर था। शाम के छः-सात बजे हम वहां पहुंच गये। रोटी और शक्कर खा कर सभी लोग खुली हवा में लेटे हुए थे। कोई भजन गा रहा था, तो कोई बातचीत कर रहा था। राह में कितनी ही स्त्रियां थक गई थीं। अपने बच्चों को गोद में ले कर चलने की हिम्मत तो उन्होंने की थी, पर अब आगे चलना उनकी शक्ति से बाहर की बात थी। इसलिए अपनी चेतावनी के अनुसार मैंने उन्हें एक भारतीय सज्जन की दूकान पर छोड़ दिया, और उन्हें कह दिया कि यदि हम टॉल्स्टॉय फार्म पर पहुंच जाँय तो वे उन्हें वहां भेज दें और गिरफ्तार हो जायं, तो उनके अपने घर पर वापिस भेज दें। उन भारतीय व्यापारी सज्जन ने इस प्रार्थना को मान लिया।

जैसे जैसे रात होती गई वैसे वैसे शान्ति बढ़ती गई। मैं भी सोने की तैयारी कर रहा था कि इतने में कहीं से खड़बड़ाहट सुनाई दी। लालटेन हाथ में लिये हुए गोरों को आते हुए मैंने देखा। मैं चेता। मुझे कोई तैयारी तो करना ही नहीं थी। पुलिस अधिकारी ने कहा:—

"मेरे पास आपके नाम का वारण्ट है। आपको मुझे कैद करना है।"

मैंने पूछा—"कब?"

उत्तर मिला—"अभी।"

"मुझे कहां ले जाइएगा"?

"अभी तो इस नजदीक वाले स्टेशन पर, और गाड़ी मिलते ही वॉकसरेस्ट।"

मैंने कहा "तब तो मैं किसी को बिना जगाये ही आपके साथ हो लेता हूं" पर मेरे साथी को कुछ समझा बूझा दूँ??

"शौक से।"

पास ही सोये हुए पी० के० नायडू को मैंने जगाया। उन्हें मेरी गिरफ्तारी की बात कही, और समझा दिया कि वे लोगों को सुबह होने से पहले न जगावें। प्रातःकाल होते ही नियमानुसार सूर्योदय के पहले कूच कर दें। जहां विश्रान्ति लेने और रोटी बांटने का समय हो वहीं वे मेरी गिरफ्तारी की खबर उन्हें सुना दें, दरमियान जो जो पूछें उनसे कहते जावें। यदि सरकार दल को गिरफ्तार करना चाहे तो वह गिरफ्तार हो जावे। यदि नहीं पकड़े तो नियमित रूप से कूच करता हुआ चला जाय। नायडू को किसी प्रकार

का भय तो था नहीं, उन्हें यह भी समझा दिया था कि यदि वे स्वयं गिरफ्तार हो जावें तो उन्हें क्या करना चाहिए।

वॉक्सरेस्ट में मि० कैलनबेक भी तो थे।

मैं पुलिस के साथ साथ हो लिया। प्रातःकाल हुआ। वॉक्सरेस्ट की ट्रेन में बैठे। वॉक्सरेस्ट में मामला चला। मामला मुल्तवी रखने की माँग पब्लिक प्रॉसिक्यूटर ने ही पेश की, क्योंकि उनके पास कोई सबूत ही तैयार नहीं था। मामला मुलतवी रहा। मैंने जामीन पर छूटने के लिए दरख्वास्त पेश की। कारण यह लिखा "मेरे साथ २००० पुरुषों और १२२ औरतें और बच्चों का दल है। मामले की अगली तारीख तक मैं उनको निश्चित-स्थान पर पहुँचा कर फिर हाज़िर हो सकता हूँ" वगैरा। सरकारी वकील ने जामीन का विरोध किया। पर मॅजिस्ट्रेट बेचारे लाचार थे। मुझ पर जो आरोप रक्खा गया था, वह तो ऐसा नहीं था जिसमें जामीन पर छोड़ना भी मजिस्ट्रेट की इच्छा पर छोड़ा गया हो। इसलिए ५० पौंड का मुचलका ले कर मुझे छोड़ दिया गया। मि० कैलनबेक ने मेरे लिए मोटर तो तैयार ही रक्खी थी। उसमें सवार होते ही फौरन उन्होंने मुझे अपने लोगों में ला कर छोड़ दिया। ट्रान्सवाल के समाचार-पत्र का एक प्रतिनिधि भी हमारे साथ साथ आना चाहता था उसे भी बैठा लिया। इस मोटर की सफ़र का, मामले का, और लोगों के साथ पुनःसम्मीलन का सुन्दर वर्णन उसने प्रकाशित किया था। लोगों ने मेरा बड़ा स्वागत किया। उनका उत्साह खूब बढ़ गया। मि० कैलनबेक वैसे ही वॉक्सरेस्ट लौट गये। चार्ल्स टाउन में पिछड़े हुए लोगों को तथा नवीन था आने वालों को संभालने का काम उनके जिम्मे।

हम पुनः आगे बढ़े। पर मुझे छोड़कर सरकार कैसे चैन पा सकती थी ? इसलिए दूसरे दिन फिर दूसरी बार उसने स्टॅण्डरटन में मुझे पकड़ा। वैसे तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो यह गाँव जरा बड़ा है। बड़ी विचित्र रीति से मुझे यहाँ पकड़ा गया। मैं लोगों को रोटी बाँट रहा था। यहाँ के दूकान-दारों ने हमें मुरब्बे के डिब्बे भेंट में दिये थे। इसलिए उसके बाँटने के काम में ज्यादह समय लग रहा था। मॅजिस्ट्रेट मेरे पास आ कर खड़ा हो गया। बाँटने का काम पूरा होते ही उसने मुझे एक तरफ बुलाया। मैं उसे जानता था, इसलिए सोचा कि शायद वह कोई बात कहना चाहता होगा। किन्तु उसने तो हँस कर मुझ से कहा—

" आप मेरे कैदी हैं "।

मैंने कहा "तब तो मेरा दरजा बढ़ गया। पुलिस के बदले अब स्वयं मजिस्ट्रेट को गिरफ्तार करने के लिए आना पड़ा। पर मुझ पर मामला तो अभी चलाइएगा न ?"

उसने कहा "मेरे साथ ही चले चलिए। अदालत चल रहा है" लोगों से मुसाफरी शुरू रखने का कह कर मैं रवाना हुआ। कोर्ट में पहुँचा तो वहाँ मैंने अपने साथियों को भी गिरफ्तार पाया। पी० के० नायडू, बिहारीलाल महाराज, रामनारायणसिंह, रघुनारसू और रहीमखाँ ऐसे पाँच आदमी थे।

फौरन मुझे कोर्ट में खड़ा किया गया। मैंने अपने छूटने के लिए उन्हीं कारणों को पेश किया जो वॉकसरेस्ट में पेश किये थे। यहाँ भी सरकारी वकील ने विरोध किया। और यहाँ भी मॅजिस्ट्रेट ने छोड़ना मंजूर किया। व्यापारी लोगों ने मेरे लिए इक्का तैयार ही रक्खा था। हमारा दल तीन मील भी नहीं जा पाया था

कि फिर मैं उनसे जा मिला। इस बार तो उन्होंने और मैंने भी सोचा था कि अब तो फिर टॉल्स्टॉय फार्म पर ही पुनः भेट होगी। पर यह धारणा गलत साबित हुई। लोग मेरी गिरफ्तारी के आदी हो गये। और यह बात बड़ी महत्वपूर्ण थी। मेरे साथी तो जेल में ही रहे।

इक्कीसवां अध्याय

सभी कैद

अब हम जोहान्सबर्ग के काफी नजदीक आ गये थे। पाठकों को स्मरण रहे कि पूरा मार्ग सात दिन में तय करने का निश्चय किया था। अब तक हम अपने निश्चयानुसार प्रतिदिन मार्ग तय करते हुए आ रहे थे। अब पूरी चार मंजिलें और रह गई थीं। किन्तु ज्यों ज्यों हमारा उत्साह बढ़ता जाता था त्यों त्यों सरकार की जाग्रति भी तो बढ़नी ही चाहिए न? हमें अपनी मंजिल तय करने पर वह यदि पकड़ती तो उससे उसकी कमजोरी और अरसिकता न जाहिर होती? इसलिए उसने शायद सोचा कि यदि पकड़ना ही है तो मंजिल तय करने से पहले ही क्यों न पकड़ लिया जाय!

सरकार ने देखा कि मेरे गिरफ्तार हो जाने पर लोग न तो निराश हुए, न डरे, और न कोई उपद्रव ही उन्होंने मचाया। यदि वे उपद्रव कर बैठते तो सरकार को अपनी तोपों और बन्दूकों का उपयोग करने का अवसर मिल जाता। जनरल स्मट्स के लिए हमारी शांति और उसके साथ साथ दृढ़ता एक बड़ी दुःखदायी बात हो गई। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला। "शांत मनुष्य

को कोई कहाँ तक सता सकता है" ? मरे को मारने से क्या लाभ ? जो मरने पर तुला हुआ है, उसे मारने में कोई आनन्द नहीं आता। इसीलिए शत्रु को जिन्दा पकड़ना वहादुरी समझी जाती है। अगर चूहा विल्ली को देख कर भागना छोड दे तो अवश्य ही उसे कोई दूसरी शिकार ढूंढ़ना पड़े। सभी भेड़ें सिंह की गुफा में जा कर बैठ जायँ तो सिंह को भेड़ें खाना ही छोड़ देना पड़े। अगर सिंह सामना नहीं करे तो क्या पुरुष-सिंह सिंह का शिकार करेंगे ?

हमारी शांति और हमारे निश्चय में ही हमारी जीत छिपी हुई थी।

गोखले की इच्छा थी कि पोलक भारतवर्ष जाकर उनकी कुछ सहायता करें। मि० पोलक का स्वभाव ही ऐसा है कि वे जहाँ कहीं रहें मनुष्य के लिए उपयोगी हो जाते है। जिस काम को वे उठाते हैं उसीमें तन्मय हो जाते हैं। इसलिए उनको भारतवर्ष भेजने की तैयारियाँ चल रहीं थीं। मैंने तो लिख दिया था कि वे चले जावें। पर विना मुझे मिले, सभी सूचनायें प्रत्यक्ष मेरे मुँह से सुने विना ही वे जाना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस सफर में ही मुझ से मिल लेने की इजाजत मांगी। मैंने उन्हें तार से उत्तर दिया कि "गिरफ्तार हो जाने की जोखिम उठाना चाहें तो चले आवे"। सिपाही सभी आवश्यक जोखिमों का स्वागत कर लेते हैं। यह युद्ध तो ऐसा था कि सरकार यदि सव को पकड़ना चाहती तो सभी को गिरफ्तार हो जाना चाहिए था। जब तक सरकार गिरफ्तार नहीं करती है, तव तक गिरफ्तार होने के लिए सरल और नीतियुक्त कोशिशें करते जाना धर्म्म था।

इसलिए मि० पोलक अपनी गिरफ्तारी की जोखिम उठा कर भी आ पहुँचे।

हम लोग हेडलवर्ग के करीब पहुँच चुके थे। नजदीक वाले स्टेशन से उतर कर वे हमें वहीं मिले। हमारी बात-चीत हो रही थी। अभी वह पूरी भी नहीं हो पाई थी। दोपहर के तीन बजे होंगे। हम दोनों दल के मुंहाने पर थे। दूसरे साथी भी हमारी बातें सुन रहे थे। शाम को मि० पोलक को डरबन जाने वाली ट्रेन पकडना थी। किन्तु रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष तक को राजतिलक के समय वनवास मिला। फिर पोलक कौन होते थे ? हमारी बात-चीत हो ही रही थी कि एक घोड़ा गाड़ी सामने आ कर ठहर गई। उसमें एशियाई विभाग के उच्च अधिकारी मि० चमनी और एक पुलिस अधिकारी भी थे। दोनों नीचे उतरे। मुझे ज़रा दूर ले जा कर कहा "मैं आपको गिरफ्तार करता हूँ। इस तरह चार दिन में मैं तीन बार पकड़ा गया। मैंने पूछा इस दल को ?"

"यह सब होता रहेगा"।

मैं कुछ न बोला, केवल अपने गिरफ्तार होने की खबर देने का समय ही मुझे दिया गया। मैंने पोलक से कह दिया कि वे दल के साथ जावें। लोगों से शांति रखने के लिए कहना शुरू किया कि वह अधिकारी बोला—

"अब आप कैदी हैं। भाषण नहीं दे सकते।"

मैं अपनी मर्यादा को समझ गया। समझने की जरूरत तो नहीं थी, क्योंकि मुझे बोलते हुए रोकते ही उस अधिकारी ने तो गाड़ी हांकने वाले को गाड़ी तेज चलाने के लिए हुक्म दे दिया था। एक क्षण में दल आंखों से ओझल हो गया।

अधिकारी जानता था कि उस समय एक घड़ी भर के लिए तो मेरा ही राज्य था। क्योंकि हम पर विश्वास रखकर ही तो वह इस निर्जन प्रदेश में दो हज़ार आदमी के समुदाय के सामने आया हुआ था। वह जानता था कि यदि मुझे एक चिट्ठी भेजकर भी कैद की खबर सुनाता तो मैं बराबर हाज़िर हो जाता। इस हालत में उसका मुझे यह याद दिलाना कि मैं कैदी हूं, अनावश्यक ही था। मैं लोगों से जो कुछ कहता वह बात सत्ता धारियों के भी काम की ही थी। पर उन्हें भी तो अपना रूप दिखाना चाहिए न? इसके साथ ही मुझे यह भी कह देना जरूरी है कि कितने ही अधिकारी इस बात को जानते थे कि कैद इनके लिए कोई दुखदायी वस्तु नहीं, बल्कि मुक्ति का द्वार है। इसलिए वे सब प्रकार की रिआयतें हमारे साथ करते। इतना ही नहीं, बल्कि कैद करना अपनी सुविधा से काम करना, तथा समय बचाना इत्यादि बातों में वेहमारी सहायता मांगते और उसके मिल जाने पर अपनी एहसानमन्दी तक प्रकट करते। दोनों प्रकार के उदाहरण पाठकों को इन प्रकरणों में मिल जावेंगे। मुझे तो यहां वहां घुमा कर आखिर हेडलबर्ग के थाने में उतार दिया। रात वहीं कटी।

दल को ले कर पोलक आगे बढ़े, और हेडलबर्ग पहुंचे। वहां भारतीय व्यापारियों का अच्छा जमघट था। रास्ते में सेठ आमद महमद काछलिया और आमद भायात मिले। उन्हें इसकी खबर लग गई थी कि आगे क्या होने वाला है। दल को भी मेरे ही साथ साथ गिरफ्तार करने की व्यवस्था की गई थी। इसलिए पोलक चाहते थे कि एक दिन देर से सही, पर दल को मुकाम पर

पहुंच जाने के बाद डरबन जा कर भारत के जहाज पर चढूंगा। पर परमात्मा की योजना तो कुछ और ही थी।

इन लोगों को गिरफ्तार करके ले जाने के लिए हेडलबर्ग में दो ट्रेनें खड़ी थीं। लोग जरा हठ पर चढ़ गये। "गांधी को बुलाओ वे कहेंगे तब हम गिरफ्तार होंगे, और ट्रेन में बैठेंगे।" यह हठ तो खराब ही था। अगर वे इसे न छोड़ते तो बाजी बिगड़ने को थी। सत्याग्रही का तेज घट जाता। जेल तो जाना ही था, फिर उसमें गांधी की जरूरत क्यों आन पड़ी? सिपाही भी भला कहीं अफसरों का चुनाव करता है, अथवा कभी यह हठ पकड़ता है कि हम तो सिर्फ एक ही आदमी का हुक्म मानेंगे? मि० चमनी ने मि० पोलक और काछलिया की सहायता से बड़ी मुश्किल से उन लोगों को समझाया। इन दोनों ने कहा "यात्रा का उद्देश तो आखिर जेल जाना ही था। जब स्वयं सरदार ही गिरफ्तार होने के लिए तैयार हो, तब तो जनता को उसकी अनुपस्थिति से घबड़ाना नहीं, बल्कि उसका स्वागत करना चाहिए। इसीमें हमारी भलाई और युद्ध की जीत है। गांधी की भी दूसरी इच्छा हो ही नहीं सकती। यही सबको ख्याल करना चाहिए"। बात लोगों के ख्याल में जम गई और वे ट्रेन में बैठे।

इधर मुझे कोर्ट में खड़ा किया गया। मुझे उस समय उपर्युक्त घटनाओं की कोई खबर नहीं थी। मैंने कोर्ट से फिर छूटने के लिए दरख्वास्त की; उन्हें यह भी कहा कि दो कोर्टों ने मुझे इस तरह पहले छोड़ दिया था, और प्रार्थना की कि या तो सरकार उन लोगों को भी गिरफ्तार करे या उन्हें मुकाम पर पहुंचा देने के लिए मुझे इजाजत और छुट्टी दे। कोर्ट ने मेरी दरख्वास्त को तो

नामंजूर किया, पर मेरी मनशा सरका से फौरन जाहिर कर देने का बचन दिया। इस बार ये लोग मुझे डंडी ले जाने वाले थे। क्योंकि मामला वहीं चलने वाला था। अतः उसी दिन ट्रेन में बैठा कर मुझे डंडी लिवा ले गये।

इधर मि० पोलक को हेडलबर्ग में तो गिरफ्तार नहीं किया। इतना ही नहीं, वल्कि उनकी सहायता के लिए उनके प्रति एहसान मन्दी तक जाहिर की गई। मि० चमनी ने तो यहां तक कहा था कि सरकार उन्हें पकडना ही नहीं चाहती। पर यह तो मि० चमनी का, और जहां तक उन्हें मालूम था, सरकार का विचार था। किन्तु सरकार के विचार तो घड़ी घड़ी पर बदलते रहते थे। आखिर सरकार इसी नतीजे पर पहुंची कि मि० पोलक को भारतवर्ष नहीं जाने देना चाहिए। अतः उसने निश्चय किया कि उन्हें और मि० कैलनबेक को भी, जो कि इस समय खूब काम कर रहे थे, गिरफ्तार कर लेना चाहिए। इसलिए मि० पोलक को चार्ल्सटाउन में गिरफ्तार कर लिया। मि० कैलनबेक भी पकड़ लिये गये। दोनों वाकसरेस्ट की जेल में ठूंस दिये गये।

मुझ पर डंडी में मामला चलाया गया। नौ महीने की कैद की सज़ा मुझे सुनाई गई। अभी वाकसरेस्ट में मुझ पर मामला चलना बाकी था। अतः मुझे वाकसरेस्ट ले गये। वहां मैंने मि० पोलक और मि० कैलनबेक को भी देखा। इस तरह हम तीनों वाकसरेस्ट की जेल में एकत्र हो गये। हमें असीम हर्ष हुआ। मुझ पर जो मामला चलाया गया उसमें अपने खिलाफ मुझको सबूत देना था। पुलिस भी सबूत इकट्ठा कर सकती थी, पर बड़ी कठिनाई से। इसलिए उन्होंने मेरी ही सहायता ली। उस देश की अदालतों में अपने

गुन्हे को कबूल कर लेने के बाद कैदी को सजा नहीं दी जाती।

मेरे खिलाफ तो ठीक, पर मि० कैलनबेक और मि० पोलक के खिलाफ कौन सबूत पेश कर सकता था। यदि सबूत न मिलता तो उन्हें सजा देना अदालत के लिए असम्भव था। उनके खिलाफ शीघ्र सबूत इकट्ठा करना भी कोई आसान काम नहीं था। मि० कैलनबेक तो अपना अपराध स्वीकार ही करने वाले थे। क्योंकि उन्हें समुदाय के साथ ही रहना था। पर मि० पोलक तो भारत-वर्ष जाना चाहते थे। उन्हें इस बार जेल जाने की वैसी कोई उत्सुकता नहीं थी। अतः हम तीनों ने आखिर यही तय किया कि जब मि० पोलक को पूछा जाय कि तुमने फलाँ फलाँ अपराध किया है या नहीं, तब वे उसके उत्तर में न तो हाँ, कहें और न ना ही कहें।

इन दोनों के विपक्ष में साक्षी बन कर मैं खड़ा हुआ। हमें मामले को लम्बाना तो था ही नहीं। इसलिए हमने इस बात के लिए अदालत की पूरी सहायता की कि तीनों के मामले एक ही दिन में समाप्त हो जायँ। आखिर ऐसा ही हुआ। तीन तीन महिने की कैद हम तीनों को हुई। अब हमें यह मालूम हुआ कि कम से कम तीन महिने तो तीनों एक ही जगह रहेंगे। पर सरकार यह कैसे बरदाश्त कर सकती थी?

तथापि कुछ दिन तो वाक्सरेस्ट की जेल में हमने सुख पूर्वक बिताये। यहाँ हमेशा नये कैदी आते रहते थे, इसलिए नित्य नई खबरें भी मिलती रहती थीं। इन सत्याग्रही कैदियों में हरबत-सिंह नाम का एक बूढ़ा था। उसकी अवस्था ७५ वर्ष से भी अधिक होगी। वह कहीं खानों में नौकरी नहीं करता था। उसने

तो बरसों पहले अपना गिरमिट पूरा कर दिया था। इसलिए वह हड़तालिया नहीं था। मेरे गिरफ्तार हो जाने पर लोगों में जोश खूब बढ़ गया था। और वे नाताल से ट्रान्सवाल में प्रवेश कर अपने को गिरफ्तार करा दिया करते थे। हरबतसिंह ने भी इनके साथ साथ ट्रान्सवाल जाने का निश्चय किया।

एक दिन हरबतसिंह से मैंने पूछा "आप क्यों जेल में आये? आप जैसे बूढ़ों को मैंने जेल में आने का निमन्त्रण नहीं दिया है"

हरबतसिंह ने उत्तर दिया "मैं कैसे रह सकता था, जब आप आपकी धर्मपत्नी, और आपके लड़के तक हम लोगों के लिए जेल चले गये?

लेकिन आप जेल के दुःखों को बरदाश्त नहीं कर सकेंगे। आप जेल छोड़ कर चले जावें। क्या मैं आपके छूटने के लिए कोशिश करूँ?

मैं जेल हरगिज नहीं छोडूँगा। मुझे एक दिन मरना तो हुई है। फिर ऐसा दिन कहाँ, जो मेरी मौत यहीं हो जाय!"

इस दृढ़ता को मैं कैसे विचलित कर सकता था? वह तो इतनी विकट थी कि विचलित करने पर भी डिग नहीं सकती थी। हरबतसिंह की जो भावना थी, ठीक वही हुआ। उसने जेल ही में अपने को मृत्यु के हाथों में सौंप दिया। उसका शव वॉक्सरेस्ट से डरबन मंगवाया गया था। सम्मान पूर्वक सैकड़ों भारतीयों की उपस्थिति में हरबतसिंह का अग्नि-संस्कार किया गया। पर इस युद्ध में ऐसा एक नहीं अनेकों हरबतसिंह थे। हाँ, जेल में मरने का सौभाग्य जरूर अकेले हरबतसिंह को ही प्राप्त हुआ। और

इसीलिए दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह के इतिहास में उसका नाम उल्लेखनीय भी हो गया।

पर इस तरह जेल से आकृष्ट होकर मनुष्यों का आना सरकार को कदापि प्रिय नहीं हो सकता था। फिर जेल से छूटने वाले भी तो मेरा सन्देश लेकर जाते थे। इसको वह कैसे बरदाश्त कर सकती थी ? इसलिए उसने हम तीनों को अलग अलग रखने का निश्चय किया। जो हो, वॉक्सरेस्ट में तो एक को भी न रहने दिया जाय। हाँ, और खास कर मुझे तो उसने ऐसी जगह पर रखने का निश्चय किया जहाँ एक भी भारतीय नहीं पहुँच पावे। आखिर ऑरेंजिया की राजधानी ब्लूमफनटीन की जेल मेरे लिए चुनी गई। आरेंजिया के देश भर में सब मिल कर ५० से अधिक भारतीय नहीं होंगे। और वे सभी होटलों में नौकर। ऐसे प्रदेश की जेल में भारतीय कैदी मिल नहीं सकता था। जेल भर में भारतीय के नाम से अकेला मैं ही था।। शेष सब गोरे या हबसी थे। इसका मुझे कोई दुःख नहीं था। इसे तो मैंने सुख माना। वहाँ न तो मेरे लिए कुछ देखने को था और न सुनने के लिए। यह भी एक प्रसन्नता की बात थी कि यहाँ मुझे खूब नवीन अनुभव मिला। फिर अध्ययन के लिए तो मुझे बरसों से, अर्थात् १८९३ के बाद से अवसर ही नहीं मिला था। इसलिए यह सोच कर मुझे हर्ष ही हुआ कि अब मुझे अध्ययन के लिए पूरा एक साल मिल जायगा।

मैं ब्लूमफनटीन पहुँचा। एकान्त तो खूब मिला। असुविधायें भी बहुत सी थीं। पर वे असाधारण नहीं थीं, सब सहने योग्य थीं।

उनका वर्णन करके पाठकों का समय नहीं लूंगा। हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि वहाँ के डॉक्टर मेरे मित्र बन गये। जेलर तो केवल अपने अधिकार का ही ख्याल रखता था। और डॉक्टर कैदियों के अधिकारों की रक्षा करता था। इन दिनों मैं केवल फलाहार करता था। न दूध लेता था न घीं। अनाज तो बन्द ही था। मैं केले, टामाटा, कच्ची मुंफली, नीम्बू, और जेतून का तेल मात्र खाता था। इनमें से एक भी वस्तु यदि सडी मिलती तो भूखों मरना पड़ता। इसलिए डॉक्टर साहब विशेष सावधान रहते। उन्होंने मेरे भोजन में अखरोट, बादाम और ब्रॉझिलनट भी शामिल कर दिया। वे स्वयं सब फलों को जांच लिया करते थे। मेरा कमरा बड़ा तँग था। हवा बहुत कम मिलती थी। डॉक्टर ने खूब कोशिश की कि उसका दरवाजा खुला रक्खा रहे। पर उसकी एक भी न चली। जेलर ने तो कहा कि यदि कहीं दरवाजा खुला हुआ देखलूंगा तो मैं अपना इस्तीफा ही पेश कर दूंगा। वैसे जेलर कोई खराब आदमी नहीं था, पर उसका स्वभाव तो मानों एक सांचे का ढला हुआ था। भला वह उसे कैसे बदल सकता था? उसे हमेशा तो बदमाश कैदियों से काम पड़ता रहता। इसलिए उसे डर था कि यदि वह मेरे जैसे एक भले आदमी को देखकर अपने बर्ताव में कोई फर्क कर दे तो दूसरे कैदी उसके नाकों दम कर डालते। मैं जेलर की कठिनाई को ठीक तौर से समझ गया था और जब जब कभी डॉक्टर और जेलर के बीच मेरे प्रति बर्ताव के विषय में झगड़ा होता। तब मेरी सहानुभूति बराबर जेलर ही के पक्ष में रहती। जेलर अनुभवी आदमी था, एक मार्गी था। पर अपने कर्त्तव्य को भली भांति जानता था।

मि० कैलनदेक को प्रिटोरिया की जेल में भेजा गया और मि० पोलक को जमिस्टन की जेल में।

पर सरकार की ये तमाम व्यवस्थायें निरर्थक थीं। अब तो आकाश ही फटने लगा उसे आदमी कहाँ कहाँ पैबन्द लगा सकता था? नाताल के भारतीय गिरमिटिया पूरी तरह जाग उठे थे। अब उन्हें कोई सत्ता रोक नहीं सकती थी।

बाईसवां अध्याय

कसौटी

सोने की परीक्षा करनेवाला हमेशा उसे कसौटी पर घीसता है। इससे अधिक परीक्षा करना होती है तो वह उसे भट्टी में डालता है। उसे पीटता है, यदि कहीं अशुद्धि होती है तो उसे निकाल डालता है फिर उसका कुन्दन बनाता है। बस इसी प्रकार भारतीयों की भी परीक्षा हुई, वे पीटे गये भट्टी में तपाये गये, और जब वे परीक्षा में उत्तीर्ण हुए तब जाकर उनकी कहीं सच्ची कीमत हुई।

यात्रियों को ट्रेन में बैठा कर कहीं उनकी पूजा करने के लिए नहीं, बल्कि ऐरण पर पीटने के लिए ले चले। उनके खाने का कोई इन्तजाम नहीं था। नाताल में पहुंचते ही फौरन उनपर मामला चलाया गया और सबको जेल भेज दिया गया। पर यह तो हमने पहले ही सोच रक्खा था। वल्कि हमतो यह चाहते भी थे। पर इस तरह हजारों को जेल में रखने से तो भारतीयों की बन आती। उनका क्या बिगड़ता? सरकार का खर्च बढ़ता, और साथ ही वे कोयले की खानें भी बन्द पड़ी रहतीं। यही स्थिति अधिक समय तक टिकी रहती तो सरकार को मजबूरन कर उठाना पड़ता। इस-

लिए युनियन सरकार ने एक नवीन युक्ति ढूंढी। उसने एक ऐसी धारा बनाई कि जिसके अनुसार जहां जहां से सत्याग्रही गिरमिटिया भाग आये थे, उसी स्थान को जेल बनाया गया। और उन खानों के नौकरों को बना दिया गया जेल के दारोगा। इस तरह जिस बात का मजदूरों ने त्याग किया था वही बात सरकार ने बलात्कार पूर्वक उनसे करवाई और इसतरह खानें शुरू कर दी गईं। गुलामी और नौकरी में फर्क सिर्फ इतना ही है कि यदि नौकर नौकरी छोड़कर चला जाता है तो उसपर दीवानी अदालत में दावा पेश किया जा सकता है। किन्तु यदि गुलाम नौकरी छोड़ कर चला जाता है तो उसे जबरदस्ती से पुनः काम पर लगाया जा सकता है। अर्थात् अब वे मज्दूर पूरे गुलाम हो गये।

पर यही काफी नहीं था। मजदूर तो बहादुर थे। उन्होंने खानों में काम करने से साफ इन्कार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि कोड़ों की मार सहनी पड़ी। जो उद्धत आदमी क्षणभर में इस धारा के अनुसार अधिकारी बना दिये गये थे। उनकी बन आई। वे लगे इन मजदूरों को लातों से मारने और गालियों की बौछार करने। और भी अनेक प्रकार के अत्याचार वे करने लगे। पर इन गरीब मजदूरों ने वह सब शांति के साथ सह लिया। इन अत्याचारों के तार भारतवर्ष पहुंचे। तार से सभी खबरें गोखलेजी को भेजी जाती थीं। एक दिन भी पूरा ब्यौरेवार तार न मिलता तो वे डाँट कर पूछते। वे अपने विस्तर पर पड़े पड़े ही इन तारों का प्रचार किया करते थे। क्योंकि उन दिनों वे बहुत बीमार थे। किन्तु दक्षिण आफ्रिका के काम को स्वयं देखने का आग्रह उन्होंने नहीं छोड़ा। और इसमें न उन्होंने रात की परवा की न

दिन की। फल यह हुआ कि देश भर में वह आग फैल गई। उन दिनों भारतवर्ष में दक्षिण आफ्रिका का सवाल एक मुख्य सवाल बन गया।

इसी समय लार्ड हार्डिंज ने अपना वह विख्यात भाषण दिया था जिसके कारण दक्षिण आफ्रिका और इंग्लैण्ड में भी जहां तहां खलबली मच गई। वाईसराय दूसरे संस्थानों की टीका नहीं कर सकते थे। पर लोर्ड हार्डिज ने तो सख्त टीका कर डाली। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने तो सत्याग्रहियों का पूरा बचाव भी किया। यहां तक कि उनके सविनय-भंग का भी समर्थन कर डाला। उनके इस साहस पर इंग्लैण्ड के अखबारों में जरूर कुछ सख्त टीका-टिप्पणी की गई। तथापि लोर्ड हार्डिंज ने अपने कार्य पर पश्चात्ताप नहीं जाहिर किया, बल्कि दृढ़ता के साथ उसका औचित्य बताया। इसका फल भी बड़ा सुंदर हुआ।

इन गिरफ्तार, दुःखी किन्तु बहादुर मजदूरों को छोड़कर हम क्षणभर के लिए जरा खानों के बाहर नजर दौड़ा लें।

खानें नाताल के उत्तर विभाग में थीं। पर मजदूर तो सब से बड़ी संख्या में नैऋत्य और वायव्य कोन में रहते थे। वायव्य कोन में फिनिक्स, वेरूलम्, टोंगाट इत्यादि थे। नैऋत्य में इसीपिंगो, अमंझीटो इत्यादि थे। वायव्य के मजदूरों के साथ मेरा काफी परिचय हो गया था। उनमें से कई मेरे साथ बोअर युद्ध में काम कर चुके थे। इतना काम मुझे नैऋत्य कोन के मजदूरों से नहीं पड़ा था। उसी प्रकार इस दिशा में मेरे साथी भी बहुत कम थे। तथापि जेल और हड़ताल की बात बिजली की तरह चारों दिशाओं में फैल गई। दोनों तरफ से अचानक हजारों

मजदूर निकल पड़े। कितनों ही ने इस ख्याल से कि लड़ाई बहुत दिन तक चलेगी और शायद कोई खाने को नहीं देगा, अपना असबाब तक बेच डाला था। जेल जाते समय मैं तो अपने साथियों से कह गया था कि "अब अधिक हड़तालें न होने पावें"। मुझे विश्वास था कि अब अधिक बलिदान की जरूरत नहीं होगी। खानों के मजदूरों की सहायता से ही लड़ाई समाप्त कर देंगे। यदि सभी अर्थात् ६०,००० मजदूर हड़ताल कर देते तो उनका पोषण करते करते मुश्किल हो जाती। इन सब की कूच कराने इतनी सामग्री भी हमारे पास नहीं थी। न इतने मुखिया थे और न उतना पैसा। फिर इतने आदमियों के इकट्ठे होने पर उपद्रव न होने देना भी तो महा कठिन काम था न ?

किन्तु भला बाढ़ भी किसी से रुक सकती है! सब जगह से अपने आप मजदूर निकल पड़े, स्वयं सेवक भी अपने आप चुन लिये गये, और काम शुरू कर दिया गया।

अब सरकार ने बन्दूक-नीति का आश्रय लिया। लोगों को हड़ताल करने से जबरस्ती रोका गया। उन पर घोड़े दौड़ा कर उन्हें वापिस भेजा गया। जरा भी लोग कहीं उपद्रव मचाते तो उन पर गोलियाँ चल जातीं। पर लोगों ने लौट जाने से इनकार कर दिया। किसी किसी ने पत्थर भी फेंके, फैर किये गये। कई घायल हो गये। दो चार मरे। पर लोगों का उत्साह नहीं घटा। स्वयंसेवकों ने यहां के लोगों को हड़ताल करते करते रोका। सब तो काम पर नहीं गये। कितने ही मारे डर के कहीं छिप गये, और फिर लौट कर भी नहीं गये।

एक प्रसंग उल्लेखनीय है। वेरूलम में कई मजदूर निकल पड़े

थे। वे किसी प्रकार लौट कर नहीं जाना चाहते थे। जनरल ल्यूकिन अपने सिपाहियों को लेकर वहाँ खड़ा था। लोगों पर गोली चलाने का हुक्म वह देने को ही था, कि स्वर्गीय पारसी रुस्तमजी का छोटा लड़का बहादुर सोरावजी—जिसकी उम्र उस समय शायद ही अठारह वर्ष की होगी—डरबन से यहाँ आ पहुँचा। जनरल के घोड़े की लगाम थाम कर उसने कहा "आप गोलियाँ चलाने का हुक्म न दें, मैं अपने लोगों को शांतिपूर्वक अपने अपने काम पर लौटा देने की जिम्मेदारी लेता हूँ।" जनरल ल्यूकिन इस नौजवान की बहादुरी पर मुग्ध हो गया। और उसने सोरावजी को अपना प्रेम-बल आजमा लेने की मुहलत दे दी। सोरावजी ने लोगों को समझाया। वे समझ गये, और अपने अपने काम पर चले गये। इस तरह एक नौजवान के प्रसंगावधान, निर्भयता और प्रेम के कारण खून की नदी बहते बहते रुक गई।

पाठकों को यह जानना चाहिए कि यह गोलियाँ चलाना आदि काम गैर कानूनन ही था। खान के मजदूरों के साथ सरकार ने जो व्यवहार किया था, वह देखने में तो कानूनन था। उन लोगों को हड़ताल करने के अपराध में नहीं बल्कि ट्रान्सवाल की सरहद लांघने के अपराध में गिरफ्तार किया गया था। नैऋत्य और वायव्य में हड़ताल करना ही एक अपराध समझा गया। सो भी कानून के आधार पर नहीं, बल्कि सत्ता के आधार पर। और अंत में तो सत्ता ही कानून बन बैठती है न? अंगरेजी कानून में एक कहावत भी है जिसका अर्थ है "राजा कभी गलती करता ही नहीं।" सत्ता के लिए जो बात अनुकूल होती है, वही अंत में कानून बन जाती है। पर यह दोष सार्वभौम है। सच पूछा जाय

तो इस तरह कानून को भूल जाना हमेशा दोप भी नहीं कहा जा सकता। कई वार कानून का अवलम्बन ही दोप वन जाता है। यदि सत्ता लोकसंग्रह कर रही हो, और उसको नियन्त्रित रखने वाले नियमों से उसके विनाश की सम्भावना हो, तो वहां उस नियम का नाश करना ही धर्म्य और विवेक पूर्ण है। पर ऐसा प्रसंग वहुत क्वचित उपस्थित होता है। जो सत्ता वार वार निरंकुश हो जाती है वह लोकोपकारी नहीं कही जा सकती। प्रस्तुत उदाहरण में सत्ता के इस तरह निरंकुश होने के लिए कोई कारण ही नहीं था, हडताल करने का हक तो अनादि है। सरकार के पास यह जानने के लिए भी काफी कारण थे कि हडतालियों का उद्देश कोई उपद्रव करना नहीं था। हडताल का अन्तिम परिणाम तीन पौंड के कर का रद हो जाना था। सच पूछा जाय तो शांतिप्रिय लोगों को यदि वे गलती करें तो शांति युक्त उपायों से ही राह पर लाना चाहिए। फिर यहाँ सत्ता लोकोपकारी नहीं थी। उसका अस्तित्व तो केवल गोरों के उपकार के लिए ही था। वह साधारणतया भारतीयों की विरोधिनी थी। अर्थात् इस एक पक्षीय सत्ता की निरंकुशता कभी उचित और क्षम्य नहीं मानी जा सकती।

इसलिए मेरी मति के अनुसार तो यहाँ सत्ता का दुरुपयोग ही हुआ। जिस कार्य की सिद्धि के लिए इस तरह सत्ता का दुरुपयोग किया जाता है, वह कभी सिद्ध नहीं होता। क्षणिक सिद्धि जरूर मिलती हुई मालूम होती है, पर स्थायी सिद्धि तो कदापि नहीं मिल सकती। दक्षिण आफ्रिका में तो जिस कर की रक्षा के लिए यह अत्याचार किया गया, वही छः माह के वाद उठ गया।

इस तरह कई बार दुःख सुख के लिए ही होता है। इस दुःख की पुकार चारों तरफ मच गई। मैं तो यह मानता हूँ कि जिस तरह एक यन्त्र में प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान होता है, उसी प्रकार युद्ध में भी प्रत्येक वस्तु का भी अपना एक निश्चित स्थान होता है। और जिस प्रकार गंज या गर्दा यंत्र की गति में बाधक होता है, उसी प्रकार कितनी ही वस्तुयें युद्ध की गति को भी रोक देती हैं। हम तो निमित्त मात्र होते हैं, इसलिए हम यह हमेशा नहीं जान सकते कि कौनसी चीजें तो हमारे लिए प्रतिकूल होती हैं, और कौनसी अनुकूल। इसलिए हम केवल साधन मात्र जानने के अधिकारी हैं। साधन यदि पवित्र हों तो हम परिणाम के विषय में निर्भय और निश्चिन्त रह सकते हैं।

इस युद्ध में एक यह बात भी देखी गई कि ज्यों ज्यों लड़नेवालों का दुःख बढ़ता गया, त्यों त्यों उसका अंत भी नजदीक आता गया। साथ ही ज्यों ज्यों दुःखी की निर्दोषिता अधिकाधिक प्रकट होती गई, त्यों त्यों भी लड़ाई का अंत निकट आने लगा। मैंने इस युद्ध में यह भी देखा कि ऐसे निर्दोष, निःशस्त्र और अहिंसक युद्ध के लिए ऐन-वक्त पर जिन जिन साधनों की आवश्यकता होती है वे भी अनायास प्राप्त होते चले जाते हैं। कितने ही स्वयं-सेवकों ने, जिन्हें मैं आज तक भी नहीं जानता, अपने आप सहायता की। ऐसे सेवक अक्सर निःस्वार्थ होते हैं। अनिच्छा पूर्वक भी वे अदृश्य रूप से सेवा कर देते हैं। न तो कोई उनका हिसाब रखता और न कोई प्रमाण-पत्र ही उन्हें दे देता है। उनके वे अमूल्य कार्य परमात्मा की किताबों में जमा होते रहते हैं। पर कई सेवक तो यह भी नहीं जानते।

दक्षिण आफ्रिका के भारतीय अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। उन्होंने अग्नि-प्रवेश किया और ज्यों के त्यों शुद्ध बाहर निकल आये। अब यह अगले प्रकरण में देखेंगे कि लड़ाई के अंत का आरम्भ किस तरह हुआ।

तेईसवां अध्याय

अन्त का आरम्भ

पाठकों ने देखा ही होगा कि कौम ने अपनी शक्ति भर, और जितनी उमीद की जा सकती थी, उससे भी अधिक शांत बल का उपयोग किया। पाठकों ने यह भी देखा होगा इस बल का उपयोग करने वालों में अधिकांश वे ही गरीब, और निचली श्रेणी के लोग थे, जिनसे ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती थी। पाठकों को यह भी स्मरण होगा कि दो तीन को छोड़ कर फिनिक्स आश्रम के सभी जिम्मेदार काम करने वाले जेल में थे। फिनिक्स के बाहर रहने वालों में स्वर्गीय सेठ अहमद महमद काछलिया थे। फिनिक्स पर अब वेस्ट मिस्ट वेस्ट और मगनलाल गांधी थे। काछलिया सेठ साधारण देखभाल करते थे। मिस श्लेज़ीन ट्रॉन्सवाल का तमाम हिसाब–किताब और सरहद नांघने वालों की देखभाल करती थीं। मि० वेस्ट के ज़िम्मे इण्डियन के ओपीनियन के अगरेजी विभाग के संपादन का तथा गोखलेजी से तार व्यवहार करने का भार था। इस समय, जब कि प्रति क्षण नये नये मोर्चे बदले जाते थे, पत्र व्यवहार वगैरा का तो काम ही नहीं पड़ता था। तार ही पत्रों के

इतने लम्बे चौड़े भेजना पड़ते थे। यह सूक्ष्म उत्तरदायित्व से परिपूर्ण काम मि० वेस्ट को करना पड़ता था।

अब न्यूकॅसल की तरह फिनिक्स भी वायव्य कोण के हड़तालियों का केन्द्र हो गया। सैकड़ों मजदूर वहां आने लगे और सलाह तथा आश्रय मांगने लगे। अवश्य ही इससे सरकार का ध्यान फिनिक्स की तरफ आकर्षित हुआ। आस पास रहने वाले गोरों की आंखें भी लाल होने लगीं। अब फिनिक्स पर रहना भयावह हो गया। तथापि लड़के बच्चे तक जोखिम भरे काम करते रहते। इतने में वेस्ट गिरफ्तार हुए। सच पूछा जाय तो वेस्ट को पकड़ने के लिए कोई कारण नहीं था। सोचा यह गया था के मि० वेस्ट और मगनलाल गांधी को गिरफ्तार होने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि जहां तक हो सके, गिरफ्तारी के प्रसंगों से भी दूर रहना चाहिए। इसलिए वेस्ट ने अपनी ओर से अपने को गिरफ्तार करने के लिए सरकार को कोई कारण ही नहीं दिया था। पर सरकार कहीं सत्याग्रहियों की सुविधा असुविधा का थोड़े ही ख्याल करती है? अथवा उसे इन लोगों को गिरफ्तार करने के प्रसंगों को ढूंढना भी तो नहीं पड़ता था। सत्ताधीश जब किसी काम को करना चाहता है वहीं उसके लिए उस काम को करने का प्रसंग होता है। वेस्ट की गिरफ्तारी का तार गोखलेजी को पहुंचा कि फौरन उन्होंने भारत से होशियार आदमियों को भेजना शुरू कर दिया। सत्याग्रहियों की सहायता के लिए जब लाहौर में सभा हुई थी, तब एँण्ड्रूज ने अपने पास के सभी पैसे दे डाले। तभी से गोखले की नजर में वे भर गये थे। इसलिए वेस्ट की गिरफ्तारी की खबर मिलते ही

फौरन उन्होंने मि० एराडयूज को तार द्वारा पूछा कि "क्या आप इसी वक्त दक्षिण आफ्रिका जाने के लिए तैयार हैं ?" एराड्यूज ने उत्तर में लिख दिया "हाँ "। उसी क्षण उनके परम-प्रिय मित्र पियर्सन भी तैयार हो गये, और दोनों पहली स्टीमर से दक्षिण आफ्रिका जाने के लिए निकल पड़े।

पर अब तो युद्ध समाप्त होने को था। हजारों निर्दोष आदमियों को जेल में रखने की ताकत दक्षिण अफ्रिका की सरकार में नहीं थी। वाईसराय भी उसे सहन नहीं कर सकते थे। सारे संसार की नजर इस बात पर लगी हुई थी कि अब जनरल स्मट्स क्या करते हैं ? इस समय जनरल स्मट्स ने भी वही किया जो ऐसी हालत में अन्य सरकारें करती हैं। यों जांच तो किसी बात की करना नहीं थी। जो कुछ भी अन्याय हो रहा था, वह तो प्रकट ही था। स्वयं जनरल स्मट्स इस बात को महसूस करते थे कि निःसन्देह अन्याय हो गया है और चाहते थे कि उसका दूर होना जरूरी है। पर इस समय "भई गति सांप छछूंदर केरी" वाला उनका हाल हो रहा था। वे इस समय इन्साफ तो करना चाहते थे, पर उस शक्ति को अपने हाथों से खो बैठे थे। क्योंकि दक्षिण आफ्रिका के गोरों को वे इस बात का आश्वासन दे चुके थे कि वे स्वयं उस तीन पौंड वाले कर को रद नहीं करेंगे, और न कोई अन्य सुधार ही करेंगे। पर अब तो वे उस कर को उठाने तथा अन्य सुधार भी करने के लिए मजबूर हो रहे थे। ऐसी विचित्र स्थिति से निकलने के लिए लोकमत से डराने वाले राज्य हमेशा कमिशन की नियुक्ति करते हैं। कमिशन नाम मात्र की जांच कर लेता है। क्योंकि उसका परिणाम तो पहले ही से सर्व-विदित सा होता है। इधर कमिशन ने

सिफ़ारिश की नहीं, कि उसपर अमल हुआ नहीं, यही सामान्य प्रथा है। अर्थात् साधारणतया सरकारें जिस न्याय को पहले से देने में इन्कार करती हैं, वही कमिशन की सिफारिश के आधार पर फिर बाद में उनको देना पड़ता है। जनरल स्मट्स के कमिशन में तीन सभ्य नियुक्त किये गये। भारतीय जनता ने इस कमिशन के विषय में कुछ शर्तें पेश कीं, और यह प्रतिज्ञा ले ली कि जब तक उन शर्तों का पालन न किया जायगा, तब तक वह उसका बहिष्कार करेगी। उनमें नीचे लिखी दो शर्तें थीं।

(१) सब सत्याग्रहियों को छोड़ दिया जाय।

(२) कमिशन में कम से कम एक सभ्य तो जरूर भारतीयों का चुना हुआ हो।

पहली शर्त को कुछ अंशों में स्वयं कमिशन ने ही मान लिया था, और उसने सरकार से सिफारिश की थी कि कमिशन का काम सरल करने के लिए सरकार मि० कैलनबेक, मि० पोलक और मुझे बिना किसी शर्त के छोड़ दे। सरकार ने इस सिफारिश को मंजूर कर हम तीनों को एक साथ छोड़ दिया। मुश्किल से हम दो महीने जेल में रहे होंगे।

इधर वेस्ट को गिरफ्तार तो कर लिया पर सरकार के पास ऐसा कोई सबूत नहीं था जिसके बल पर उन पर वह काम चला सकती। इसलिए उन्हें भी उसे छोड़ना पड़ा। ये घटनायें एँड्रयूज और पियर्सन के दक्षिण आफ्रिका पहुंचने के पहले ही घट चुकी थीं। इसलिए दोनों मित्रों को स्टीमर से मैं ही लिवा लाया। दोनों को इस बात के कोई समाचार नहीं मिले थे, इसलिए उन्हें

बड़ा ही आश्चर्य पर साथ ही आनंद भी हुआ। दोनों के साथ मेरा यह प्रथम परिचय ही था।

छूटने पर हम तीनों को निराशा ही हुई। बाहर के कोई हाल हमें मालूम नहीं थे। कमिशन की खबर सुनकर हमें आश्चर्य तो जरूर हुआ, पर हमने देखा कि हम कमिशन की किसी प्रकार सहायता नहीं कर सकते थे। हमने इस बात को भी महसूस किया कि कमिशन में भारतीयों की तरफ का भी कोई आदमी होना जरूरी है। इसपर हम तीनों डरबन पहुँचे और वहां से जनरल स्मट्स को एक पत्र लिखा जिसका सार इस तरह थाः—

"हम कमिशन का स्वागत करते हैं। पर इसमें उन दो सभ्यों की जिस तरह नियुक्ति हुई है उसके लिए हमारी घोर आपत्ति है। उनके व्यक्तित्व से हमें किसी तरह का विरोध नहीं है। वे चतुर और प्रसिद्ध नागरिक हैं। पर उन दोनों ने कई बार भारतीयों के प्रति अपना विरोध जाहिर किया है। इसलिए अज्ञाततः उनसे अन्याय होने की संभावना है। मनुष्य अपने स्वभाव को एकाएक नहीं बदल सकता। अतः यह मान लेना प्रकृति के नियमों के विपरित होगा कि वे दोनों अपना स्वभाव पलट लेंगे। तथापि हम यह नहीं चाहते कि उनको कमिशन से अलग ही कर दिया जाय। हम तो केवल यही चाहते हैं, कि किसी तरह कुछ और तटस्थ पुरुप उसमें रख लिये जायं। इसी हेतु से हम सर जेम्स रोभइनिस और ऑन० डब्ल्यू० पी० श्राइनर के नाम सूचित करते हैं। ये दोनों प्रख्यात व्यक्तियां हैं। और अपनी न्याय-वृत्ति के लिए भी प्रसिद्ध हैं। हमारी दूसरी प्रार्थना यह है कि तमाम सत्याग्रही कैदियों को छोड दिया जाय। अगर

ऐसा नहीं किया जायगा तो हमारे लिए बाहर रहना मुश्किल हो जायगा। अब उन्हें जेल में रखने का कोई कारण भी नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि हमें कमिशन के सामने अपनी जबानी देना पड़े, तो हमें खानों में, तथा जहां जहां गिरमिटिया काम करते हैं वहाँ जाने की इजाजत मिलनी चाहिए। यदि हमारी इस प्रार्थना पर विचार न हुआ तो हमें फिर जेल में जाने के उपायों को ढूंढना होगा।"

जनरल साहब ने कमिशन के सभ्यों की संख्या बढाने से इनकार कर दिया और कहा कि कमिशन किसी पक्ष के लिए नियुक्त नहीं किया गया है। वह तो केवल सरकार के संतोष के लिए है। यह उत्तर मिलते ही हमारे पास तो एक ही उपाय बच रहा। हमने पुनः जेल की तैयारी कर इस आशय के निवेदन पत्र प्रकाशित कर दिये कि सन १९१४ के जनवरी की पहली तारीख से जेल जाने वाले डरबन से कूंच करेंगे। ता० १८ दीसम्बर १९१३ को हमें छोड़ा गया था, २१ वीं को हमने उपर्युक्त पत्र लिखा और २४ वीं को जनरल का यह उत्तर मिला था।

पर इस उत्तर में एक बात थी, जिस पर से मैंने उन्हें फिर एक पत्र लिखा। जनरल के जवाब में यह वाक्य था, "कमिशन को निष्पक्ष और अदालती बनाया गया है और उसकी नियुक्ति करते समय यदि भारतीयों की सलाह नहीं ली गई, तो खानों के मालिकों के साथ तथा चीनी के कारखाने वालों के साथ भी कोई सलाह नहीं की गई"। इस पर से मैंने उन्हें एक खानगी पत्र लिखा जिस में उन्हें सूचित किया कि यदि सरकार न्याय ही चाहती हो तो मुझे जनरल स्मट्स से मिलना है। और उन्हें कुछ बातें कह देना

है। इसके उत्तर में उन्होंने मेरी प्रार्थना को स्वीकृत किया। इसलिए कुछ दिन के लिए तो कूच मुल्तवी की गई।

इधर जब गोखलेजी ने सुना कि पुनः कूच की तैयारी हो रही है, तो उन्होंने एक लम्बा चौड़ा तार भेजा। उसमें लिखा था कि मेरे इस कार्य से लार्ड हार्डिज की और स्वयं उनकी स्थिति भी बड़ी विचित्र हो जायगी। इसलिए कूच को स्थगित करने तथा कमिशन के सामने अपना सबूत पेश करने के लिए उन्होंने बड़ी जोरों की सलाह दी।

अब तो हम धर्म-संकट में फँस गये। कौम तो इस बात की प्रतिज्ञा कर चुकी थी कि यदि उनकी मन्शा के अनुसार कमिशन के सभ्य नहीं बढाये गये तो वह उसका बहिष्कार करेगी। लार्ड हार्डिज अप्रसन्न हो जायं और स्वयं गोखले को भी दुःख हो तो प्रतिज्ञा-भंग कैसे हो सकता था। मि० एँण्ड्रयूज ने सुझाया कि गोखलेजी की सहानु-भूति, उनकी नाजुक हालत तथा हमारे निश्चय से उनको जो आघात पहुंचने की सम्भावना थी उस पर भी पूरा विचार कर लेने की जरूरत है। मैं तो जानता ही था। मुखियाओं की सलाह हुई, और अन्त में सब इसी निर्णय पर पहुंचे कि कमिशन में यदि अधिक सभ्य नहीं लिये गये तो उसका बहिष्कार तो अवश्य ही करना चाहिए। फिर इसका परिणाम चाहे जो हो। इसलिए फिर लगभग सौ पौंड खर्च करके एक लम्बा तार गोखलेजी को भेजा गया। इससे एँण्ड्रयूज भी सहमत हो गये। इस तार का आशय नीचे लिखे अनुसार था:—

"आपके दुःख को हम समझ सकते हैं। मेरी हमेशा यही इच्छा रहेगी कि सब बातों को छोड कर आपकी सलाह का ही सम्मान

करूं। लार्ड हार्डिंज ने भी हमारी अमूल्य सहायता की है। मैं यह भी चाहता हूं कि इसी प्रकार अंत तक हमें उनकी सहायता मिलती रहे। पर साथ ही प्रार्थना करता हूं कि आप हमारी स्थिति को भी समझ लें। इसमें हजारों मनुष्यों की प्रतिज्ञा का प्रश्न है। प्रतिज्ञा शुद्ध है। सारे युद्ध की रचना प्रतिज्ञाओं पर की गई है। यदि यह बन्धन न होता तो आज हममें से कितने ही फिसल गये होते। हजारों मनुष्यों की प्रतिज्ञा यदि इस तरह पानी में डुबो दी जाय तो फिर संसार में नैतिक बंधन जैसी कोई वस्तु ही नहीं रहेगी। प्रतिज्ञा करते समय लोगों ने पूरा विचार कर लिया था। उसमें किसी प्रकार की अनीति तो हुई नहीं। बहिष्कार की प्रतिज्ञा लेने का भी कौम को अधिकार है। मैं चाहता हूं कि आप भी यही सलाह देंगे कि इस तरह गंभीरता पूर्वक की गई प्रतिज्ञा किसी के लिए भी न तोड़ी जाय। उसका पालन तो होना ही चाहिए, फिर चाहे सो हो जाय। यह तार लार्ड हार्डिंज को भी बताइएगा। मैं चाहता हूं कि आपकी स्थिति विचित्र न हो। हमने परमात्मा को साक्षी रख कर और उसी, की सहायता के बल पर युद्ध छेड़ा है। हम बड़े-बूढ़ों की, गुरु-जनों की सहायता भी मांगते हैं। उसके मिल जाने पर हमें हर्ष होता है। पर मेरी तो यही नम्र राय है कि वह चाहे मिले या न मिले। हमारी प्रतिज्ञा नहीं टूटनी चाहिए। अंत में उस के पालन में आपका समर्थन और आशीर्वाद मैं मांगता हूं।"

यह तार गोखलेजी को भेजा गया। उसका असर उनके स्वास्थ्य पर तो हुआ पर सहायता पर नहीं हो पाया। यदि हुआ हो तो भी इस तरह कि वह और भी बढ गई। उन्होंने लार्ड हार्डिंज को तार भेज दिया। किन्तु हमारा त्याग नहीं किया।

बल्कि हमारी दृष्टि का समर्थन ही किया। लॉर्ड हार्डिंज भी दृढ रहे।

एँएड्रूज को लेकर मैं प्रिटोरिया गया। इसी समय यूनियन रेलवे के गोरे कार्य-कर्ताओं ने वडी भारी हडताल कर दी। इस हड़ताल से सरकार की स्थिति बडी नाजुक हो गई। मुझे भी कहलाया गया कि फिर भारतीयों की कूच बोल दी जाय। मैंने तो जाहिर कर दिया कि मुझ से इस तरह रेलवे हडतालियों की सहायता नहीं हो सकती। सरकार को महज़ सताना हमारा उद्देश नहीं है। हमारी लड़ाई और उसका तरीका भी भिन्न है। यदि हमें कूच करना ही होगा तो वह हम तभी करेंगे जब यह रेलवे की हडताल शान्त हो जायगी। इस निश्चय का बड़ा गंभीर प्रभाव पड़ा। रूटर ने इसके तार इंग्लैंड भेजे। वहां से लॉर्ड अम्पटहिल ने धन्यवाद सूचक तार भेजा। दक्षिण आफ्रिका के अंगरेज मित्रों ने भी धन्यवाद दिये। जनरल स्मट्स के मंत्री ने विनोद में कहा "मुझे तो आपके लोग जरा भी अच्छे नहीं लगते। मैं तिल-भर भी उनकी सहायता नहीं करना चाहता। पर हम करें क्या? आप लोग तो आपत्काल में भी हमारी सहायता करते हैं। आपको कैसे मारा जा सकता है? मैं तो कई बार चाहता हूं कि आप भी कहीं इन अंगरेज हड़तालियों की तरह उपद्रव कर दें तो एक घड़ी में आपको सीधा करदें। पर आप तो दुश्मन को भी सताना नहीं चाहते। केवल स्वयं दुःख सह कर जीतना चाहते हैं। विवेक और मर्यादा का जरा भी त्याग नहीं करते। फिर हम क्या कर सकते हैं?"

इसी प्रकार के उद्गार जनरल स्मट्स के मुंह से भी निकले थे।

पाठकों को इस बात का बराबर ख्याल होगा कि सत्याग्रही

के विवेक और विनय का यह पहला ही उदाहरण नहीं था। वायव्य कोण में जब हड़ताल हुई तब कितनी ही जगह गन्ना कटा हुआ मैदान में ही पड़ा था। वह यदि उचित स्थान पर नहीं पहुंचा दिया जाता तो मालिकों की बड़ी हानि होती। इसलिए १५०० आदमी फिर उस काम को पूरा करने के लिए लौट गए, और माल को उचित तथा सुरक्षित स्थान पर पहुंचा कर फिर हड़ताल में शामिल हो गये। डरबन की म्यूनिसीपालिटी के गिरमिटियाओं ने जब हड़ताल की तब उसमें भी जो मेहतर और शफाखाने का काम करते थे, उन्हें वापिस भेज दिया गया। और वे खुशी से लौट भी गये। यदि मेहतर और शफाखानों में काम करने वाले काम छोड दें तो सारे शहर में बीमारी फैल जाय, तथा अस्पताल में रोगियों की शुश्रूषा भी बंद हो जाय। और सत्याग्रही तो कभी न चाहेगा कि उसके कार्य का ऐसा परिणाम हो। इसलिए ऐसे कार्यकर्ताओं को हड़ताल से मुक्त रक्खा गया। प्रत्येक काम करते हुए सत्याग्रही को यह जरूर सोच लेना चाहिए कि उसके इस कार्य का परिणाम विरोधी पर कैसा होगा।

इस तरह के अनेकों विवेक पूर्ण कार्यों का अदृश्य प्रभाव चारों ओर मुझे दिखाई देता था। इसीसे भारतीयों की प्रतिष्ठा दिन ब दिन बढ़ती जा रही थी और समझौते के लिए अनुकूल वायु मण्डल तैयार होता जा रहा था।

चौबीसवां अध्याय

प्राथमिक समझौता

इस तरह दिन-ब दिन समझौते के लिए अनुकूल वायुमण्डल होता जा रहा था। एँण्ड्रयूज और मैं प्रिटोरिया पहुंचे, उसी समय सर बेंजामिन रॉबर्टसन भी, जिन्हें कि लॉर्ड हार्डिंज ने एक स्पेशल स्टीमर में भेजा था, वहां पहुंचने वाले थे। पर जनरल स्मट्स ने मुलाकात के लिए जो दिन मुकर्रर किया था उसी दिन हमें वहां पहुंच जाना जरूरी था। इसलिए सर बेंजामिन की बिना ही राह देखे हम चल पड़े थे। राह देखने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। युद्ध का अंत तो हमारी शक्ति के अनुसार ही होने वाला था।

हम दोनों प्रिटोरिया तो पहुंचे। पर जनरल स्मट्स से अकेले मुझी को मुलाकात करनी थी। वे रेलवे के गोरे कर्मचारियों की हड़ताल के काम में मग्न थे। यह हड़ताल भी ऐसी भयंकर थी कि यूनियन सरकार को फौजी कानून जारी करना पड़ा था। इन कर्मचारियों का उद्देश केवल अपनी मजदूरी बढ़ाना ही नहीं था। वे तो सत्ता को भी अपने हाथों में ले लेना चाहते थे। मेरी पहिली भेंट बहुत छोटी थी। पर मैंने देखा कि कूच करने से पहले

जनरल स्मट्स की जो स्थिति थी, वह आज नहीं थी। पाठकों को स्मरण होगा कि उस समय तो उन्होंने बात चीत करने से भी इन्कार कर दिया था। सत्याग्रह की धमकी तो जिस प्रकार उस समय थी, ठीक वैसी ही अब भी कायम थी। पर फिर भी उन्होंने बसीठी करने देने से इन्कार कर दिया था। इस बार तो वे सलाह लेने तक को तैयार थे।

भारतीयों की मांग तो यह थी की उनकी तरफ से भी कमिशन में किसी की नियुक्ति होनी चाहिए। पर इस बात पर जनरल स्मट्स मजबूत थे, उन्होंने कहा "यह तो हो ही नहीं सकता। उससे सरकार की प्रतिष्ठा कम हो जायगी और दूसरे, मैं जो सुधार करना चाहता हूं वह मैं नहीं कर सकूंगा। आप जानते हैं कि मि० एसलन हमारे आदमी है। सुधार करने के विषय में वे सरकार के प्रतिकूल मत नहीं दे सकते बल्कि अनुकूल ही हो जावेंगे। कर्नल वायली नाताल के प्रतिष्ठित मनुष्य हैं। इसके अलावा वे आप लोगों के विरोधी माने जाते हैं। इसलिए यदि वे भी तीन पौंड का कर उठा लेने के पक्ष में अपना मत दे देंगे तो हमारा काम बड़ा सरल हो जायगा। इस समय हम ऐसी कठिनाइयों में फंसे हैं कि दम मारने तक की फुरसत नहीं है। इसलिए स्वयं हम ही चाहते हैं कि आपके मामले का एक बारगी अंतिम फैसला हो जाय। आप जो चाहते हैं वही देने का प्रस्ताव हमने स्वीकृत कर लिया है। पर बिना कमिशन की सम्मति के वह दिया नहीं जा सकता। आप की स्थिति को भी मैं समझ सकता हूं। आप तो यह प्रतिज्ञा किये बैठे हैं कि जब तक हम आप के पक्ष के किसी आदमी को कमिशन में शामिल नहीं कर लेंगे, तब तक आप कोई

सबूत नहीं देंगे। भले ही आप न दें। पर जो देना चाहें उनको रोकने के लिए कोई आन्दोलन न कीजियेगा। तब तक तो सत्याग्रह को भी स्थागित करना होगा। मेरा तो ख्याल है कि यदि आप ऐसा करेंगे तो आप का लाभ ही होगा और हमें भी शांति मिलेगी। आपका कहना है कि हड़तालियों पर जुल्म हुआ है। पर आप इस बात को सिद्ध नहीं कर सकेंगे। क्योंकि आप तो कोई सबूत ही देना नहीं चाहते। इसलिए इस बात का भी आपको पूरा विचार कर लेना चाहिए।"

इस तरह की बात चीत जनरल स्मट्स ने की। मुझे तो यह सब अनुकूल ही मालुम हुआ। एक धर्म-संकट जरूर था। हमने सिपाहियों और दारोगाओं के जुल्म की जो शिकायतें की थीं उनको सिद्ध करने का सुयोग बहिष्कार की प्रतिज्ञा के कारण हमें नहीं मिल सकता था। पर इस विषय में हमारे बीच मतभेद भी था। एक पक्ष का कहना था कि सिपाहियों पर जिन बातों का आरोप किया गया है वे भारतीयों की तरफ से साबित हो जाना बहुत जरूरी है। इसलिए उनकी यह सूचना थी की यदि कमिशन के सामने हम अपना सबूत पेश नहीं कर सकते तो हमें उन लोगों के खिलाफ इस रूप में फरियादें प्रकाशित करना चाहिए कि जिससे यदि वे (अभियुक्त) चाहें तो हम पर आबरू नुकसानी का दावा कर सकें। मैं इस पक्ष का विरोधी था। बहुत सम्भव है कमिशन अपना निर्णय सरकार के प्रतिकूल नहीं देगा। फिर लाइबेल (आबरू नुकसानी की फरियाद) पेश करने जितनी बातें प्रकट करने में कौम को बहुत भारी झंझटों में पड़ना पड़ता फिर इसका परिणाम क्या होता? यही की हमारी फरियाद सिद्ध

होगई इस बात का सन्तोष। फिर एक वकील होने के कारण मैं उन कठिनाइयों को भी जानता था जो लायबेल सिद्ध करने में उपस्थित हो सकता था। पर सब से जबरदस्त दलील तो मेरे पास यह थी कि सत्याग्रही को तो दुःख ही सहना था। सत्याग्रह शुरू करने के पहले हम इस बात को जानते थे कि उसमें हमें मरणांत दुःख तक सहन करना होगा और इसके लिए हम तैयार भी थे। फिर अब उन दुःखों को साबित कर देने में कोई विशेषता नहीं रह जाती। बदला लेने की वृत्ति तो सत्याग्रही में होनी ही नहीं चाहिए। इसलिए अपने दुःखों को सिद्ध कर देने में जहां असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड रहा हो वहां ठीक तो यही है कि वह शांत रहे। सत्याग्रही तो असल बात के लिए लड़ता है, और वह था कानून। जहां उसके रद होने अथवा उसमें आवश्यक परिवर्तन हो जाने की भी संभावना है तो फिर सत्याग्रही दूसरे झंझटों में पड़ेगा क्यों? दूसरे, कानून के विरोध में उसने जो युद्ध ठान दिया है उसमें सत्याग्रही का मौन भी तो अवश्य समझौते के समय मददगार होगा। इन दलीलों से विरोधी पक्ष के एक बड़े हिस्से को मैं समझा सका। आखिर यही निश्चय हुआ कि दुःखों की कानूनन फरियाद को साबित करने की बात को छोड़ दिया जाय।

पच्चीसवां अध्याय

पत्र व्यवहार

प्राथमिक समझौते के लिए जनरल स्मट्स और मेरे बीच पत्र व्यवहार शुरू हुआ। मेरे पत्र का आशय इस प्रकार था ?—

"आपकी सूचनानुसार हम अपनी प्रतिज्ञा के कारण कमिशन की सहायता नहीं कर सकेंगे। इस प्रतिज्ञा को आप समझ सकते हैं और उस की कद्र भी करते हैं। आप भारतीयों के साथ सलाह मशविरा करने के तत्व को कुबूल करते हैं, इसलिए मैं अपने देश भाइयों को यह सलाह अवश्य दे सकता हूं, कि वे कमिशन में सबूत पेश करने के अतिरिक्त अन्य प्रकार से उसकी सहायता कर सकते हैं। कम से कम वे उसके काम में रोडे अटकाने से तो जरूर बाज़ आवें। मैं उन्हें यह सलाह भी दे सकूंगा कि जब तक कमिशन जारी है और नवीन कानूनों का विधान नहीं हो जाता सरकार को आपत्ति में न डाला जाय इस ख्याल से वे सत्याग्रह को भी मुलतबी रक्खें। भारत के बड़े लाट महोदय के भेजे सर बेंजामिन रॉबर्टसन् की सहायता करने के लिए भी उनसे मैं सिफारिश कर सकता हूं। मुझे कहना होगा कि हम अपनी प्रतिज्ञा के कारण उन दुःखों को कमिशन के सामने सबूत पेश करके साबित नहीं

कर सकेंगे जिन्हें हमने जेल में और हड़तालों के दिनों में झेला है। सत्याग्रही की हैसियत से हम से जहाँ तक होगा हम अपने कष्टों की न तो शिकायत करेंगे, और न इनके बदले की ही इच्छा करेंगे। पर हमारे इस समय के इस मौन का कहीं यह अर्थ न लगा लिया जाय कि उन्हें सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई सामग्री ही नहीं है। मैं चाहता हूं कि आप हमारी स्थिति को भी समझ लें। इसके अतिरिक्त चूंकि हम सत्याग्रह को मुलतवी करने के लिए तैयार हैं, उस अवस्था में इस युद्ध के कारण जो लोग आपकी कैद में हैं वे भी छोड़ दिये जायँ। हम लोग जो जो बातें चाहते हैं उन्हें मैं संक्षेप में नीचे लिख देना आवश्यक समझता हूं।

(१) तीन पौंड का कर उठा लिया जाय।

(२) हिन्दू, इस्लाम इत्यादि धर्मों की विधि के अनुसार किये गये विवाह कानूनन समझे जायं।

(३) शिक्षित भारतीय इस देश में प्रवेश पा सकें।

(४) ऑरेञ्जिया के विषय में जो एकरार हुए हैं उनमें सुधार किया जाय।

(५) यह विश्वास दिलाया जाय कि प्रचलित कानूनों पर इसी प्रकार अमल किया जायगा जिससे वर्तमान अधिकारों के हक़ में कोई हानि न हो।

इन बातों का संतोषप्रद उत्तर मिलने पर मैं कौम को सत्याग्रह मुल्तवी रखने के लिए सलाह दे सकूंगा।"

यह पत्र १९१४ की जनवरी की २१ वीं तारीख को मैंने लिखा था। उसी दिन उनका उत्तर भी मिल गया। आशय यह था:—

"यह जानकर सरकार को दुःख हुआ कि आप कमिशन में ज़बानी नहीं दे सकेंगे। पर वह आपकी स्थिति को समझ सकती है। आप अपने कष्टों वगैरा विषयक बात छोड देना चाहते हैं इसके हेतु को भी सरकार समझे हुए है। पर जब आप उस विषय में कोई सबूत ही देना नहीं चाहते तो सरकार के लिए भी तो इस विषय में कुछ करने योग्य नहीं रह जाता। सत्याग्रही कैदियों को छोडने का हुक्म तो आपका पत्र मिलने के पहले ही सरकार दे चुकी है। कौमी दुःखों के विषय में आपने जो उल्लेख किया है उस विषय में सरकार तब तक कुछ न कर सकेगी जब तक कि कमिशन अपनी रिपोर्ट पेश नहीं कर देता।"

इन दोनों पत्रों का लेन देन होने के पहले हम दोनों जनरल स्मट्स को कई बार मिल चुके थे। पर इस बीच सर बेंजामिन रॉबर्टसन भी प्रिटोरिया जा पहुंचे थे। यद्यपि सर बेंजामिन लोक प्रिय माने जाते थे, और गोखलेजी की सिफारिश भी लाये थे, तथापि मैंने देखा कि वे एक मामूली अंगरेज अधिकारी की कम-जोरियों से एक दम मुक्त नहीं थे। वहां पहुंचते ही उन्होंने कौम में भेद-नीति का बिष बोना और सत्याग्रहियों को डराने का काम शुरू कर दिया। प्रिटोरिया की पहली मुलाकात में मुझ पर उनका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। डराने के विषय में मुझे जो तार मिले थे उनका जिक्र भी मैंने उनसे किया था। मुझे तो सबके साथ एक ही रीति से, अर्थात् स्पष्टता तथा निस्पृहता पूर्वक काम लेना था। इसलिए हम मित्र हो गये! पर मैंने य कई बार अनुभव किया कि डरने वाले को तो अधिकारी डराते ही रहते हैं। और सरल तथा निडर मनुष्य से सीधी तरह पेश आते हैं।

इस तरह प्राथमिक समझौता हो गया। और आखिरी बार सत्याग्रह मुलतवी किया गया। कई अंगरेज मित्र खुश हो गये, और अंतिम समझौते में सहायता करने का उन्होंने मुझे आश्वासन भी दिया। कौम से यह समझौता मंजूर करा लेना जरा मुश्किल था। सबको यही आशंका थी कि जागा हुआ उत्साह कहीं फिर न सो जाय। फिर जनरल स्मट्स पर अब लोग क्यों विश्वास करने चले? अनेकों ने १९०८ के समझौते की याद दिला दिला कर कहा "जो जनरल स्मट्स पहले एक बार कौम के साथ विश्वासघात कर चुके हैं, जो सत्याग्रह में नवीन बातें शामिल करने का आरोप आप पर मढ चुके हैं, जिन्होंने कौम पर विपत्ति के महान् महान् पर्वत ढाहे हैं, क्या आप उन्हें फिर भी अभी तक नहीं समझ सके? कैसे दुःख की बात है? यह आदमी फिर आपके साथ विश्वासघात करेगा और फिर आप सत्याग्रह की राग आलापेंगे किन्तु तब आप पर कौन विश्वास करेगा? यह कैसे हो सकता है कि लोग बार बार जेल जावें, और फिर बार बार धोखा खावें? जनरल स्मट्स जैसे आदमी के साथ तो केवल एक ही समझौता हो सकता है। और वह यही की हम जो कुछ भी चाहते हैं वह दे दे। उससे वचन न लिये जायं। जो वचन दे कर फिर उन्हें तोड़ देता है उसे उधार भी कोई कैसे देगा"? मैं जानता था कि इसी प्रकार की दलीलें कई जगह पेश की जावेंगी। इसलिए मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। सत्याग्रही के साथ चाहे कितनी ही बार विश्वासघात किया जाय वह तब तक बराबर वचनों पर विश्वास करता जायगा जब तक कि उसे इसके विपरीत कोई ऐसे ही बलवान कारण नहीं मिल जावेंगे। जिसने दुःख को ही

सुख समझ लिया है, वह केवल दुःख के भय से ऐसी जगह अविश्वास न करेगा, जहां अविश्वास करने के लिए कोई कारण न हो। बल्कि वह तो अपनी शक्ति पर विश्वास रखकर इस बात की चिंता ही न करे कि कहीं विरोधी पक्ष फिर विश्वासघात न कर जाय। वह तो वचनों पर बराबर विश्वास करता हुआ आगे बढता जायगा, चाहे कितनी ही बार उसके साथ विश्वासघात क्यों न हो; और यह करते हुए वह यही ख्याल रक्खेगा कि इसी तरह सत्य का बल बढता जायगा और विजय नजदीक आवेगी। इसलिए स्थान स्थान पर सभायें कर के मैं लोगों के द्वारा उस समझौते को मंजूर करा सका। लोग भी सत्याग्रह का रहस्य विशेष रूप से समझने लग गये। इस बार के समझौते में श्री ऍएड्र्यूज मध्यस्थ और साक्षी थे। उसी प्रकार वाईसराय के राजदूत की हैसियत से सर बेंजामिन रावर्टसन भी थे। अर्थात् यह समझौता मिथ्या होने की बहुत ही कम भ्रांति थी। यदि मैं हठ पर चढ जाता और इस समय समझौता नहीं करता तो उलटा कौम का ही दोष समझा जाता, और जो विजय छः महीने बाद हमें मिली उसके मिलने में अनेक प्रकार के विघ्न खडे हो जाते। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' वाला वाक्य इसी प्रकार के अनुभवों से लिखा गया है, जिनमें सत्याग्रही किसी को उंगली तक बताने का कारण नहीं देता। अविश्वास भी डर की निशानी है। सत्याग्रह में अवश्य ही निर्भयता है। निर्भय को डर कैसे हो सकता है? फिर जहाँ विरोधी के विरोध को जीतना है, विरोधी का नाश नहीं करना है तहां अविश्वास क्यों?

इसलिए कौम के समझौता मंजूर करने के बाद अब केवल यूनियन पार्लियामेन्ट की राह देखना बाकी रह गया। तब तक

वह कमिशन तो जारी ही था। उसमें भारतीयों की तरफ से बहुत कम गवाह गये। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण था कि कौम पर सत्याग्रह का कितना प्रभाव था। सर बेंजामिन रॉबर्टसन ने कई भारतीयों को साक्ष्य देने के लिए समझाया। पर जो इने गिने सत्याग्रह के कट्टर विरोधी थे, उनको छोड़ कर शेष सब अटल रहे। इस बहिष्कार का प्रभाव जरा भी खराब नहीं हुआ। कमिशन का काम कम हो गया। और रिपोर्ट फौरन प्रकाशित हो गई। रिपोर्ट में कमिशन के सभ्यों ने इस बात पर जरूर सख्त टीका की थी कि भारतीयों ने कमिशन की सहायता नहीं की। सिपाहियों के दुर्व्यवहार वाले आरोप को भी बिलकुल उड़ा दिया गया। पर उस ने उन सब बातों के देने की सिफारिश की, जिन्हें भारतीय चाहते थे। तीन पौंड वाला कर बिलकुल उठा लिया जाय, दूसरे विवाह के विषय में भी भारतीयों की बात को मान लेना चाहिए। इत्यादि अन्य भी कई छोटी छोटी बातें देने तथा यह सब बहुत शीघ्र कर डालने की सिफारिश उसने की। इस तरह जनरल स्मट्स के कथनानुसार कमिशन ने अपनी रिपोर्ट भारतीयों के अनुकूल ही दी। मि० ऍण्ड्रयूज इंग्लैण्ड के लिए रवाना हुए। उसी प्रकार सर बेंजामिन्न रॉबर्टसन भी चले गये। हमें भी यह विश्वास दिलाया गया कि कमिशन की रिपोर्ट के अनुसार ही कानून भी बनाया जायगा। अब हम यह अगले प्रकरण में देखेंगे कि वह कानून कौनसा था और किस तरह बनाया गया था।

छब्बीसवां अध्याय

युद्ध का अन्त

कमिशन की रिपोर्ट के कुछ ही समय बाद उस कानून का मसविदा यूनियन गॅझट में प्रकाशित किया गया जिसके अनुसार सुलह होने को थी। इस मसविदे के प्रकाशित होते ही मुझे केप टाउन जाना पड़ा। यूनियन धारा-सभा की बैठकें वहीं होती थीं—अब भी वहीं होती हैं। इस बिल में नौ धारायें हैं। पूरा बिल 'नवजीवन' के दोनों स्तम्भों में समा सकता है। उसका एक भाग भारतीयों के विवाह से संबंध रखता है। इसके अनुसार वे सब विवाह दक्षिण आफ्रीका में कानूनन करार दे दिये गये जो भारतवर्ष में कानूनन समझे जाते हैं। पर इसके अनुसार किसी की भी एक से अधिक पत्नियां एक ही समय कानूनन नहीं समझी जावेंगी। दूसरे भाग के द्वारा वह तीन पौंड वाला कर रद हो गया जो स्वतन्त्र भारतीय की हैसियत से वहां रहने वाले प्रत्येक गिरमिटिया को प्रतिवर्ष देना पड़ता था, तीसरे भाग में दक्षिण आफ्रिका में रहने वालों को दिये गये प्रमाण-पत्रों का महत्व बताया गया है। अर्थात् उसमें यह बताया गया है कि जिनके पास वह प्रमाण-पत्र हो उसको दक्षिण आफ्रिका में रहने का हक़ उस

प्रमाण पत्र के द्वारा कहां तक सिद्ध होता है । इस विचार पर यूनियन पार्लियामेन्ट में खूब और मीठी चर्चा हुई । अन्य बातें, जिनके लिए कानून की आवश्यकता नहीं थी, जनरल स्मट्स और मेरे बीच के पत्र-व्यवहार द्वारा, तय हो गई। उनमें नीचे लिखी बातों का खुलासा था।

(१) केप कोलोनी में शिक्षित भारतीयों के प्रवेश और निवास के हक़ की रक्षा

(२) दक्षिण आफ्रिका में दाखल होने के लिए खास इजाजत किन्हें किन्हें दी जाय ?

(३) सन् १९१४ के पहले दक्षिण आफ्रिका में प्रवेश पा चुकने वाले शिक्षित भारतीयों के विषय में, और

(४) जिसने एक से अधिक स्त्रियों से शादी कर ली है उसे बराय मिहरबानी अपनी अन्य स्त्रियों को लाने की इजाजत दे दी जाय, इस विषय में ।

जनरल स्मट्स के पत्र में एक और बात भी है ।"वर्तमान कानूनों के विषय में यूनियन सरकार ने हमेशा यही चाहा है और अब भी चाहती है कि उन पर न्याय पूर्वक और वर्तमान स्वत्वों की रक्षा करते हुए ही अमल किया जाय" यह पत्र जून सन् १९१४ की ३० वीं तारीख को लिखा गया था। उसी दिन मैंने जनरल स्मट्स को एक पत्र लिखा जिसका आशय इस प्रकार था:

"आपका आज ही का लिखा पत्र मुझे मिल गया। जनरल स्मट्स ने शांति और विनय पूर्वक मेरी बातों को सुन लिया इसलिए मैं उनका एहसानमन्द हूं । भारतीयों के साथ रिआयत करने वाला कानून और हमारा यह पत्र-व्यवहार सत्याग्रह-युद्ध को

समाप्त करता है। यह युद्ध सन् १९०६ के सितम्बर में शुरू हुआ था। इसके कारण भारतीयों को अनेकों कष्ट और आर्थिक मुसीबतों का सामना करना पड़ा। सरकार को भी इसके कारण बड़ी चिंता में पड़ना पड़ा। प्रधान मंत्री महाशय जानते हैं कि मेरे कितने ही भाई इससे कहीं अधिक बातें मांग रहे थे। भिन्न भिन्न प्रान्तों में व्यापार करने के परवानों के विषय में कानून, मसलन ट्रान्सवाल का 'गोल्ड लॉ', 'ट्रान्सवाल टाउन शिप्स ऐक्ट', तथा सन् १८८५ का ट्रान्सवाल का नं० ३ का कानून,—वगैरा में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं किया गया जिसके कारण रहने वगैरा विषय के सम्पूर्ण हक़, व्यापारी स्वतंत्रता, और जमीन की मालिकी का हक़ भी हमें मिल जावें; इसलिए वे असंतुष्ट हो गये हैं। कितने ही तो इसी बात पर असंतुष्ट हो गये हैं कि उन्हें एक प्रांत से दूसरे प्रांत में आने की पूरी स्वाधीनता नहीं मिली है। कई इसलिए नाराज़ हैं कि भारतीयों के साथ रिआयतें करने वाले विवाह-विषयक कानून में विवाह के विषय में जो कुछ किया गया है इससे कुछ अधिक करने की जरूरत थी। और वे सब चाहते थे कि मैं इन बातों को सत्याग्रह के उद्देश के अन्दर शामिल कर लूं। पर मैंने उनकी बातों को मंजूर नहीं किया। इसलिए यद्यपि सत्याग्रह के उद्देशों में इन बातों को सम्मिलित नहीं किया गया है, तथापि इस बात से तो कदापि इन्कार नहीं किया जा सकता कि किसी दिन सरकार को इन बातों पर भी विचार करके उनको न्याय देना चाहिए। जब तक यहां बसने वाले भारतीयों को नागरिकत्व के सम्पूर्ण हक नहीं दिये जावेंगे; तब तक पूरे संतोष की आशा ही नहीं की जा सकती। अपने भाइयों को मैंने कह

दिया है कि आपको शांति रखना चाहिए। और प्रत्येक उचित साधन के द्वारा लोकमत को इतना जागृत कर देना चाहिए कि भविष्य की सरकार उन बातों से भी आगे बढ़ जाय जिनका कि इस पत्र-व्यवहार में उल्लेख किया गया है। मुझे आशा है कि जब दक्षिण आफ्रिका के गोरे इस बात को समझने लग जावेंगे कि अब तो भारतवर्ष से गिरमिटिया मजदूरों का आना बंद हो गया है, तथा दक्षिण आफ्रिका में नवीन आने वालों के संबंध में जो कानून स्वीकृत हो गया है उसके अनुसार स्वतंत्र भारतीयों का आना भी लगभग बंदसा ही हो गया है, और साथ ही जब वे यह भी जान लेंगे कि भारतीय यहां के राज्य-कार्य में भी हस्तक्षेप करने की कोई महत्वाकांक्षा नहीं रखते, तब तो वे भी इस बात को महसूस करने लग जावेंगे कि उपर्युक्त स्वत्व उन्हें जरूर ही देना चाहिए, और उसीमें न्याय भी है। इस प्रश्न को हल करने में पिछले कुछ महीनों से सरकार ने जिस उदार नीति का अवलम्बन किया है, वह यदि वर्तमान कानूनों पर अमल करते समय भी इसी प्रकार कायम रही, जैसा कि आपके पत्र में लिखा है, तो मुझे विश्वास है कि समस्त यूनियन भर में भारतीय जनता कुछ शांतिपूर्वक रह सकेगी, और वह सरकार की अशांति का भी कारण न होगी।

उपसंहार

इस तरह आठ वर्ष के वाद सत्याग्रह का यह महान् युद्ध समाप्त हुआ। और मालूम होने लगा कि समस्त दक्षिण आफ्रिका में वसने वाले भारतीयों को शान्ति मिली। दुःख तथा हर्ष के साथ मैं इग्लैंड में गोखलेजी से मिल कर भारतवर्ष को लौटने के लिए दक्षिण आफ्रिका से निकल पडा। जिस दक्षिण आफ्रिका में मैंने २१ वर्ष निवास किया, और असंख्य कडुवे तथा मीठे अनुभवों को प्राप्त किया, साथ ही जहां मैंने अपने जीवनोद्देश का दर्शन किया, उस देश को छोड़ते हुए मुझे वड़ा दुःख हुआ और कुछ अनिच्छा भी मालूम हुई। हर्ष मुझे इस विचार से हुआ कि अव मुझे कई वर्षों में भारतवर्ष लौट कर गोखले की छत्रच्छाया में सेवा करने का सद्भाग्य प्राप्त होगा।

उस लड़ाई का इस तरह सुंदर अंत हुआ। किन्तु उसके साथ दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की वर्तमान अवस्था की जव हम तुलना करते हैं तव क्षण भर के लिए दिल में यही प्रश्न उठता है कि इतना दुःख और कष्ट हमने क्यों उठाया होगा? अथवा सत्याग्रह जैसे शस्त्र की फिर कौन विशेषता रही? इस प्रश्न के उत्तर पर भी यहां विचार कर लेना जरूरी है। सृष्टि का

यह एक अटल नियम है कि जो वस्तु जिस साधन से प्राप्त होती है उसी साधन से उसकी रक्षा भी होती है। सत्य से संप्राप्त वस्तु का संग्रह भी सत्य से ही हो सकता है। अर्थात् यदि दक्षिण आफ्रिका के भारतीय आज ही सत्याग्रह का उपयोग कर सकें, तो आज ही वे सुरक्षित हो सकते हैं। यह विशेषता तो सत्याग्रह में भी नहीं है कि सत्य के द्वारा प्राप्त की गई वस्तु की रक्षा सत्य को छोड़ देने पर भी की जा सकती हो। किन्तु यदि यह संभव हो तो भी वह इष्ट नहीं माना जा सकता। इसलिए आज यदि दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की अवस्था बिगड़ी हुई है तो इसका कारण हमें यही समझ लेना चाहिए कि वहां सत्याग्रहियों का अभाव है। यह कथन आजकल के भारतीयों के दोष को सूचित नहीं करता, बल्कि यह तो केवल वहां की वस्तु-स्थिति का दर्शक मात्र है। व्यक्ति अथवा समुदाय उस वस्तु को कहां से ला सकता है जो उसमें हुई नहीं? सत्याग्रही सेवक तो एक के बाद एक चल दिये। सोराबजी, काछलिया, नायडू, पारसी रुस्तमजी आदि की मृत्यु के कारण अनुभवियों में से बहुत ही कम लोग रह गये हैं। जो बचे हैं वे अबतक भी जूझते ही हैं। और मुझे तो इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि यदि उनमें सत्याग्रह होगा तो वे भी जरूर ही कौम को बचालेंगे।

अन्त में, इन प्रकरणों को पढ़ने वाले पाठक इस बात को तो जान गये होंगे कि यदि यह महान युद्ध नहीं छेड़ा जाता, यदि अनेकों भारतीय उन कष्टों और मुसीबतों को न उठाते, जिन्हें उन्होंने इस अप्रतिम युद्ध में उठाया, तो आज दक्षिण आफ्रिका में भारतीयों के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इतना ही नहीं,

क्योंकि दक्षिण आफ्रिका की इस विजय के कारण अन्य उपनिवेशों में रहने वाले भारतीयों की भी न्यूनाधिक परिमाण में रक्षा हो हुई। यदि दूसरे उपनिवेश अपनी रक्षा न कर सके तो यह सत्याग्रह का दोष नहीं कहा जायगा। वल्कि कहना होगा कि उन उपनिवेशों में सत्याग्रह का अभाव है, और साथ ही यह भी सिद्ध होगा कि भारतवर्ष में भी उनकी रक्षा करने की शक्ति का अभाव है। सत्याग्रह एक अमूल्य शस्त्र है। उसमें निराशा अथवा पराजय के लिए तो स्थान ही नहीं है। यह बात यदि न्यूनाधिक अंश में भी इस इतिहास में सिद्ध हो गई हो तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

समाप्त

सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर.

स्थापना सन् १९२५ ई०; मूलधन ४५,०००)

उद्देश्य—सस्ते से सस्ते मूल्य में ऐसे धार्मिक, नैतिक, समाज सुधार सम्बन्धी और राजनैतिक साहित्य को प्रकाशित करना जो देश को स्वराज के लिए तैय्यार बनाने में सहायक हो, नवयुवकों में नवजीवन का संचार करे, स्त्रीस्वातंत्र्य और अछूतोद्धार आन्दोलन को बल मिले।

संस्थापक—सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला (सभापति) सेठ जमनालालजी बजाज आदि सात सज्जन।

मंडल से—राष्ट्र-निर्माणमाला और राष्ट्र-जागृतिमाला ये दो मालाएँ प्रकाशित होती हैं। पहले इनका नाम सस्तीमाला और प्रकीर्णमाला था।

राष्ट्र निर्माणमाला (सस्तीमाला) में प्रौढ़ और सुशिक्षित लोगों के लिए गंभीर साहित्य की पुस्तकें निकलती हैं।

राष्ट्र-जागृतिमाला (प्रकीर्णमाला) में समाज सुधार, ग्राम संगठन, अछूतोद्धार और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करनेवाली पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहक होने के नियम

(१) उपर्युक्त प्रत्येक माला में वर्ष भर में कम से कम सोलह सौ पृष्ठों की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। (२) प्रत्येक माला की पुस्तकों का मूल्य डाक व्यय सहित ४) वार्षिक है। अर्थात् दोनों मालाओं का ८) वार्षिक। (३) स्थाई ग्राहक बनने के लिए केवल एक बार ॥) प्रत्येक माला की प्रवेश फ़ीस ली जाती है। अर्थात् दोनों मालाओं का एक रुपया। (४) किसी माला का स्थायी ग्राहक बन जाने पर उसी माला की पिछले वर्षों में प्रकाशित सभी या चुनी हुई पुस्तकों की एक एक प्रति ग्राहकों को लागत मूल्य पर मिल सकती है। (५) माला का वर्ष जनवरी मास से शुरू होता है। (६) जिस वर्ष से जो ग्राहक बनते हैं उस वर्ष की सभी पुस्तकें उन्हें लेनी होती हैं। यदि उस वर्ष की कुछ पुस्तकें उन्होंने पहले से ले रखी हों तो उनका नाम व मूल्य कार्यालय में लिख भेजना चाहिए। उस वर्ष की शेष पुस्तकों के लिए कितना रुपया भेजना चाहिए, यह कार्यालय से सूचना मिल जायगी।

सस्ती-साहित्य-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (महात्मा गांधी) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≡) सर्वसाधारण से ॥)

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) पृष्ठ १३२ मूल्य ।=) ग्राहकों से ।)

(३) दिव्य जीवन—पुस्तक दिव्य विचारों की खान है। पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य ।=) ग्राहकों से ।) चौथी बार छपी है।

(४) भारत के स्त्री रत्न—(पाँच भाग) इस में वैदिक काल से लगाकर आज तक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पतिव्रता, विदुषी और भक्त कोई ५०० स्त्रियों की जीवनी होगी। प्रथम भाग पृष्ठ ४१० मू० १) ग्राहकों से ॥।) दूसरा भाग दूसरे वर्ष में छपा है। पृष्ठ ३२० मू० ॥।-)

(५) व्यावहारिक सभ्यता—छोटे बड़े सब के उपयोगी व्यावहारिक शिक्षाएँ। पृष्ठ १२८, मूल्य ।)॥ ग्राहकों से ≡)॥

(६) आत्मोपदेश—पृष्ठ १०४, मू० ।) ग्राहकों से ≡)

(७) क्या करें? (टॉलस्टॉय) महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २३६ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)

(८) कलवार की करतूत—(नाटक) (ले० टाल्सटाय) अर्थात् शराबखोरी के दुष्परिणाम; पृष्ठ ४० मू० -)॥। ग्राहकों से -)।

(९) जीवन साहित्य—(भू० ले० बाबू राजेन्द्रप्रसादजी) काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग-पृष्ठ २१८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=)

प्रथम वर्ष में उपरोक्त नौ पुस्तकें १६६८ पृष्ठों की निकली हैं

सस्ती-साहित्य-माला के द्वितीय वर्ष की पुस्तकें

(१) तामिल वेद—[ले० अछूत संत ऋषि तिरुवल्लुवर] धर्म और नीति पर अमृतमय उपदेश—पृष्ठ २४८ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(२) स्त्री और पुरुष [म० टाल्सटाय] स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आदर्श विचार—पृष्ठ १५४ मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(३) हाथ की कताई बुनाई [अनु० श्री रामदास गौड़ एम० ए०) पृष्ठ २६७ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥ इस विषय पर आई हुई ६६ पुस्तकों में से इसको पसंद कर म० गांधीजी ने इसके लेखकों को १०००) दिया है।

(४) हमारे ज़माने की गुलामी (टाल्सटाय) पृष्ठ १०० मू० ।)

(५) चीन की आवाज़—पृष्ठ १२० मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(६) द० अफ्रिका का सत्याग्रह—(दूसरा भाग) ले० म० गांधी पृष्ठ २२८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(७) भारत के स्त्रीरत्न (दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग ३२० मू० ॥।-) ग्राहकों से ॥≡) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(८) जीवन साहित्य [दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग २०० मू० ॥) ग्राहकों से ।≡) इसका पहला भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

दूसरे वर्ष में लगभग १६५० पृष्ठों की ये ८ पुस्तकें निकली हैं

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) कर्मयोग—पृष्ठ १५२, मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—पृष्ठ १२४ मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा—पृष्ठ सं० ९४, मू० केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—पृष्ठ २६४, मू० ॥-) ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—पृष्ठ २०८ मू० ॥) ग्राहकों से ।-)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्मा विद्यालंकार) भू० ले० पं० पद्मसिंहजी शर्मा पृष्ठ १७६, मू० ।≡) ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविन्दसिंह (ले० चण्डीचरणसेन) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों और उनके कारिन्दों की काली करतूतें और देश की विनाशोन्मुख स्वाधीनता को बचाने के लिए लड़ने वाली आत्माओं की वीर गाथाओं का उपन्यास के रूप में वर्णन—पृष्ठ २८० मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(८) स्वामीजी [श्रद्धानंदजी] का बलिदान और हमारा कर्तव्य [ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय] पृष्ठ १२८ मू० ।-) ग्राहकों से ।)

(९) यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास [प्रथम भाग] यूरोप का इतिहास स्वाधीनता का तथा जागृत जातियों की प्रगति का इतिहास है। प्रत्येक भारत-वासी को यह ग्रन्थ रत्न पढ़ना चाहिये। पृष्ठ ३६६ मू० ॥=) ग्राहकों से ॥-)

प्रथम वर्ष में १७१२ पृष्ठों की ये ९ पुस्तकें निकली हैं

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के द्वितिय वर्ष की पुस्तकें

(१) यूरोप का इतिहास [दूसरा भाग] पृष्ठ २२७ मू० ॥-) ग्राहकों से ।=) (२) यूरोप का इतिहास [तीसरा भाग] पृष्ठ २४० मू० ॥-) ग्राहकों से ।=) इसका प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(३) ब्रह्मचर्य-विज्ञान [ले० पं० जगन्नारायणदेव शर्म्मा, साहित्य शास्त्री] ब्रह्मचर्य विषय की सर्वोत्कृष्टपुस्तक—भू० ले० पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे—पृष्ठ ३७४ मू० ।॥-) ग्राहकों से ॥-)॥

(४) गोरों का प्रभुत्व [बाबू रामचन्द्र वर्म्मा] संसार में गोरों के प्रभुत्व का अंतिम घंटा बज चुका। एशियाई जातियां किस तरह आगे बढ़ कर राजनैतिक प्रभुत्व प्राप्त कर रही हैं यही इस पुस्तक का मुख्य विषय है। पृष्ठ २७४ मू० ।॥=) ग्राहकों से ॥=)

(५) अनोखा—फ्रांस के सर्व श्रेष्ठ उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के "The Laughing man" का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक हैं डा० लक्ष्मणसिंह बी० ए० एल० एल० बी० पृष्ठ ४७४ मू० १।=) ग्राहकों से १)

द्वितीय वर्ष में १५९० पृष्ठों की ये ५ पुस्तकें निकली हैं

राष्ट्र-निर्माण माला के कुछ ग्रंथों के नाम [तीसरा वर्ष]

(१) आत्म-कथा (प्रथम खंड) म० गांधी जी लिखित-अनु० पं० हरिभाऊ उपाध्याय। पृष्ठ ४१६ स्थाई ग्राहकों से मूल्य केवल ।।=) पुस्तक छप गई है।

(२) श्री राम चरित्र (३) श्रीकृष्ण चरित्र-इन दोनों पुस्तकों के लेखक हैं भारत के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य एम. ए. (४) समाज-विज्ञान [ले० श्री चन्द्रराज भण्डारी]

राष्ट्र-जागृतिमाला के कुछ ग्रन्थों के नाम [तीसरा वर्ष]

(१) सामाजिक कुरीतियां [टाल्सटाय] (२) भारत में व्यसन और व्यभिचार [ले० वैजनाथ महोदय बी. ए.] (३) स्वाश्रमहारिणी [वामन मल्हार जोशी] [४] टालस्टाय के कुछ नाटक

विशेष हाल जानने के लिए बड़ा सूचीपत्र मंगाइये।

पता—सस्ता-साहित्य मण्डल, अजमेर